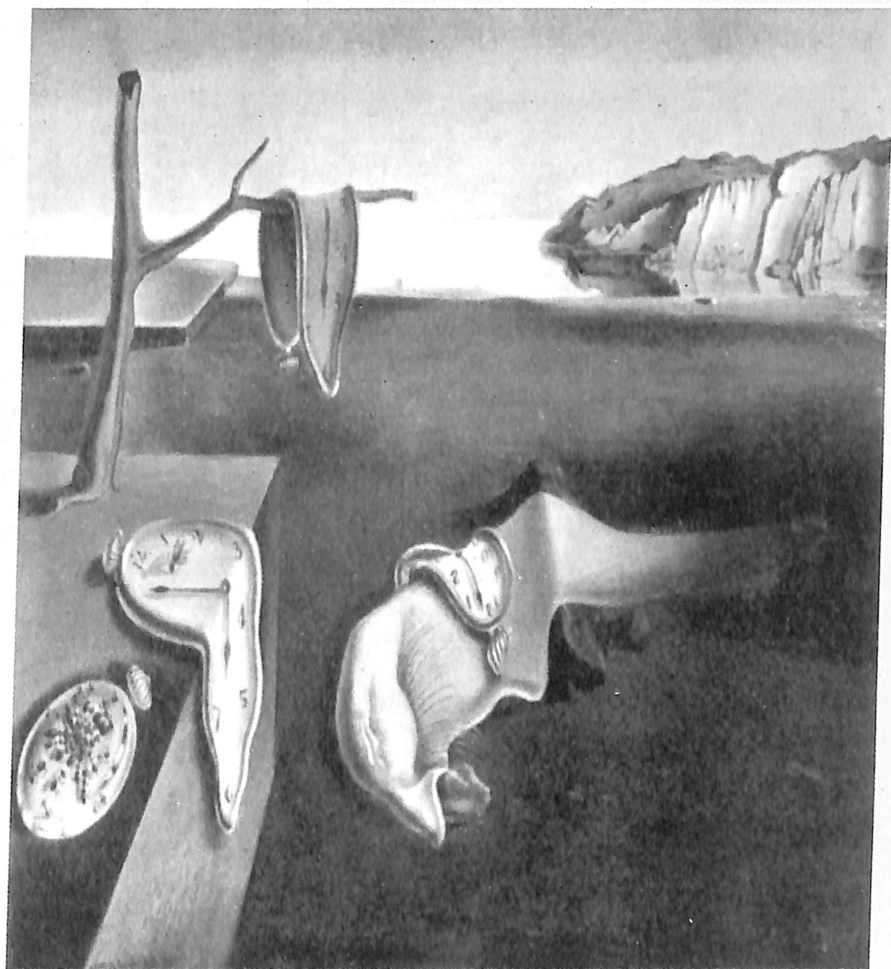
समय के तेवर

(साहित्य के सामयिक सरोकार)

रतनलाल शान्त



समय के तेवर

(साहित्य के सामयिक सरोकार)

कवि-चिन्तक
भाई
डॉ० र.ल.भट्ट
के लिए
सस्नेह
[illegible]
जम्मू 29/10/08

रतनलाल शान्त

' समय के तेवर '
डॉ0 रतनलाल शान्त
प्रकाशक : नीहार प्रकाशन, 904 सुभाषनगर, जम्मू–180005
टाइप सेटिंग : शोभा क्रियेशन्स, 7/7 नानक नगर, जम्मू। 9419104787
प्रथम संस्करण : 2007 ई0
मूल्य : रू0 225/–

मुख पृष्ट : साल्वाडोर डाली के प्रसिद्ध चित्र 'लैंडस्केप : द परसिस्टैन्स ऑफ मेमोरी' (1931) की अनुकृति। समय और स्मृति का अनन्त लगाव अतीत से समकालीन क्षण तक बना रहता है। निरन्तरता की अभिव्यक्ति के लिए डाली अचेतन से निसृत स्वप्निलता का सहारा लेता है। चित्र में जो वस्तुजगत चित्रित है वह सामान्य न दिखने के बावजूद सम्भव और सत्य है। डाली भौतिक तथा मानसिक, सचेतन और अचेतन के बीच की दीवारें ढहाने के उद्देश्य से चित्रकारी करता है, तथाकथित आधुनिकों की तरह निरी रूपात्मकता या रूपात्मक कलामूल्यों तक खुद को सीमित नहीं रखता ।

"SAMAY KE TEVAR" (A Criical evaluation of some literary trends and writers) by Dr. Ratan Lal Shant. Type setting : Shobha Creations, 7/7, Nanak Nagar, Jammu.
Publisher : Neehar Prakashan, 904, Subhash Nagar, Jammu 180 005.
1st Edition 2006, Price - Rs.225/-

{ इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए सहायता स्वरूप जम्मू कश्मीर कल्चरल एकैडेमी ने योगदान किया है । इसके लिए आभार, पर इस पुस्तक में व्यक्त किसी भी विचार या राय के लिए एकैडेमी उत्तरदायी नहीं है ।}

●

समय के तेवर

अनुक्रम

(क) समय से परे

(ख) समकालीनों के बीच



काल निरवधि

इस बात में कोई सन्देह नहीं कि साहित्य सरोकारों और मूल्यों को नियोजित कर उन्हें स्थायित्व देने की प्रक्रिया में उत्प्रेरक का काम करता है। समय की प्रकृति में गतिशीलता है, जो स्थिरता के विरुद्ध जाती है । यों साहित्य और समय के बीच के सम्बन्ध एक प्रकार की जूझ पर भी पनपते विकसते हैं। स्थायित्व भी और जूझ भी । रचयिता इस विरोधी लगने वाली स्थिति को जितना समझे उतना उस की रचना दृष्टि पैनी होगी ।

साहित्य में अपेक्षा की जाती है कि वह अपने समय के आस-पास उपस्थित भी रहे और समय की सीमाओं को लांघ भी जाए । अपने समय में उसकी रचना पैठे भी और अगले समयों के लिए कारामद भी रहे । सत्साहित्य यही करता है ।

इस संग्रह के लिए अपने लेखन को समेटते तथा नियोजित करते हुए कुछ बातों से मैं जैसे पहली बार परिचित हुआ, जो साहित्य की उपर्युक्त प्रकृति के बारे में थीं । मैं ने विभिन्न प्रेरणाओं से विभिन्न मनःस्थितियों में जो लिखा था उसके पीछे एक मूलभूत प्रेरणा काम कर रही थी। इस तथ्य का मानो मुझे अब यह अपूर्व अनुभव हुआ। मेरे विषय रचना-समय और समय-विस्तार में दोनों दृष्टियों से भिन्न थे पर मेरी मूल्यांकन प्रक्रिया में एक अविरल एकता मौजूद रही है, जो समय के अन्तरालों तथा तमाम वैभिन्य के बावजूद सम पर चलती रही है। परन्तु मेरा प्रयत्न गतिमान को स्थैर्य में बांधने का नहीं रहा है। ऐसा आज से दो दशक पहले भी था

और जाने अनजाने आज भी है। मूल्यांकन और दृष्टि, स्थिर तथा गतिमान दोनों के बीच के फासले तय करने से ही सम्भव होती हैं । मेरी यात्रा इसी रास्ते पर चलती रही है ।.

समय के बारे में मेरा चिन्तन अपूर्व है, ऐसा कोई दावा मैं नहीं करता पर मेरे लिए इतना सन्तोषजनक है कि मेरा प्रयास समय के तेवर पहचानने का रहा है । हम जानते हैं कि साहित्य से बढ़कर कोई मानव-उद्यम तेवरों को न पहचानता है और न उन्हें प्रमाणिकता प्रदान करता है । मैंने जिन समस्याओं पर सोचा तथा लिखा है, वे हिन्दी साहित्य की ही नहीं, किसी भी भाषा और रचना-उपक्रम की रही है और रहेंगी। कविता, कहानी, नाटक तो इस उपक्रम के कुछ साधन हैं, आधारभूत है अभिव्यक्ति का उद्यम। इस उद्यम को मैंने सामूहिक समस्याओं के अतिरिक्त व्यक्तिगत रचनाओं में भी देखने का प्रयास किया है और करता रहूँगा । इसलिए मैंने रचयिता-व्यक्ति के बहाने सामूहिक साहित्यिक उद्यम को परखने के लिए भी तथाकथित पुस्तक-समीक्षाओं को प्रयुक्त करने का प्रयास किया है। शायद इस पुस्तक के पाठक को एक साथ अपने समय से परे तथा अपने समय के आस-पास कुनमुनाती हुई अभिव्यक्ति का आभास मिलेगा ।

परिच्छेदों के बीच की रिक्तियों को अपनी कुछ अप्रकाशित कविताओं से पूर्ति करने का लोभ संवरण नहीं कर सका हूँ।

904, सुभाषनगर, **रतनलाल शान्त**
जम्मू ।
14 मई 2007

(क) समय से परे

अभी तक
सिर में जो तड़फड़ाता रहा ब्रह्मांड
चमकता है दर्द भरे अन्धेरे में वह
क्रमागत कांड
उसमें नए नए सवालों की झखमार
थके हुए, गिरते पड़ते, बढ़ने का दौर
मारकाट करती हुई सदियों की चीख
मुठभेड़ करते हुए स्वार्थों के बीच
भोले भाले लोगों के माथों पर घाव

— मुक्ति बोध

भारतीय राष्ट्र, साहित्य और राष्ट्रीय साहित्य

किसी समाज के जीवन में जैसी विविधता होती है, समस्याएँ भी वैसी ही विविध और बहुपक्षीय होती हैं और विवादों के भी उतने ही आयाम होते हैं। लेकिन ऐसा भी नहीं कि तथा–कथित एकरूप (होमोजीनस) समाज में बहस के मुद्दे नहीं होते और समाधान सरल होते हैं। मनुष्य चिन्ता करेगा तो चिन्तन होगा। भारतीय समाज ने सहज विकास के लिए जिज्ञासा और विवेक, प्रश्न और अस्वीकृति, अनुशासन और बहुविधता कों अंगीकार किया (अर्थात् अपना अंग बनाया) इसलिए यहाँ मति और सहमति से जीवन का ढर्रा बनता रहा है। " बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिन्ता तेरे हैं कितने नाम । अरी पाप है तू, जा चल जा ।" चिल्ला उठता तो है कविवर प्रसाद का मनु लेकिन हम जानते हैं कि प्रतिरोधी प्रवृत्ति के बावजूद आगे चलकर वह श्रद्धा के विपक्षी दृष्टिकोण से भी जीवन को देखने को प्रेरित होता है।

वैदिक, बौद्ध तथा मध्यकालीन साम्राज्य युग में भारत में राज्यीय राष्ट्र (स्टेट नेशन) के स्वरूप की एक ही परिकल्पना रही, यह कहना शायद पूर्णतः सत्य नहीं । लेकिन एक प्रकार का परा–राज्यीय (ट्रांस स्टेट) राष्ट्रवाद इस देश में सदा रहा है और इसकी मिसाल विश्व इतिहास में मिलती है। इसका कारण केवल धर्म नहीं, जैसा कि कुछ चिन्तक मानते है। न केवल हिन्दु धर्म न विस्तृत अर्थ में केवल आर्य धर्म ऐसे देश व्यापी आन्दोलन काक रूप लेती, जिसने एक ओर मध्यकालीन टकराव के बाद एक न्यारी समझ तथा अभिवृत्ति उत्पन्न की तो दूसरी ओर आर्यपूर्व तथा आर्येतर परम्पराओं को अपने में रचा बसा लिया। इसलिए यहां

राज्यीय राष्ट्र की किसी परिकल्पना के स्थान पर, कहें तो एक " अ–राज्यीय (नॉन–स्टेट) राष्ट्रवाद " स्वीकृत और मान्य रहा है।

संसार–भर में आत्मनिर्भर कृषि–प्रधान इकाइयों से शुरू करके सामन्ती कस्बाई सभ्यताएं स्थापित विस्थापित होने के प्रयास में राज्य बने। इन प्रयासों के पीछे अस्तित्वरक्षा, भौतिक बुभुक्षा या अहम्–तुष्टि की चेष्टा रही है। एक राजनीतिक घेरे के भीतर इन चेष्टाओं को प्रतिफलन एक रूप में होता है तो दूसरे घेरे के भीतर दूसरे रूप में । चेष्टाओं और उनके प्रतिफलन की विभिन्नता के मूल में कई कारण होते हैं जिनमें भौगोलिक विभिन्नताएं न हों और इनके दबाव न हों तो मूल मानवीय आकांक्षाएं हर कहीं समान हैं। विश्वभर की सभ्यताएं इन्हीं आकांक्षाओं की प्राप्ति के उपक्रम से उभरी हैं।

भारत का एक बाकायदा भौगोलिक घेरा है। मोटे तौर पर इस देश की प्रभावी सीमाएं उत्तर में हिमालय की श्रेणियों से तथा दक्षिण में समुद्र से निर्धारित हुई हैं। पूर्व में इस देश का धार्मिक और सभ्यताई वर्चस्व सीमाओं को खुला छोड़ कर भी क़ायम रहा अतः कभी ब्रह्म देश (म्यांमार) तो कभी कम्बोज तक भारत फैलता सिकुड़ता रहा। असम तक तो यह देश मुख्यधारा या केन्द्रीय भारतीय राजनीतिक धारा से बंधा रहा । पश्चिम में हिन्दु कुश के पहाड़ी दर्रे खुले होने के कारण सीमाएं सिकुड़ने की नौबत आती रही । यह केवल संयोग नहीं कि भारतीय भौगोलिक–राजनीतिक इकाई को इतिहास में कभी यदि वास्तविक संकुचन से पाला पड़ा तो पश्चिम में ही। हाल में पाकिस्तान उसी तरफ बना और तब से देश की पश्चिमी सीमा रेखा अप्राकृतिक रूप से पंजाब तथा राजस्थान को चीरती हुई भौगोलिक–सांस्कृतिक एकता पर प्रश्न चिन्ह बनी हुई है। कुल मिलाकर देश की ये भौगोलिक सीमाएं यहां की राजनीति को समरूपता प्रदान करने में सफल रही हैं। केवल भौगोलिक सीमाएं, वरन देश के भीतर 'भौगोलिक विभिन्नताएं' इतनी हैं और इतनी विविध हैं कि हम इस देश को एक ही 'भौगोलिक समरूप' नहीं कह सकते। इन विविधताओं से भी विभिन्न राजनीतिक इकाइयां या राज्य निर्मित होने की प्रक्रिया पुष्ट हुई और जनपद काल से स्वतन्त्रता प्राप्ति तक भारत कई राज्यों में बटा रहा । हिन्दु साम्राज्य काल में यद्यपि भारत के ज़्यादा इलाक़े एक ही कड़ी में पिरोए रहे पर फिर भी कई क्षेत्र स्वतन्त्र राज्यों के रूप में बने रहे। मध्यकालीन मुस्लिम साम्राज्य के समय ज़्यादा क्षेत्र साम्रज्य से बाहर रहे । केवल स्वातन्त्र्योत्तर भारत में भौगोलिक विभिन्नताओं के बावजूद राजनीतिक एकता बनाए रखने का सामूहिक उपक्रम सफल हो सका है।

उपर्युक्त 'अ–राज्यीय राष्ट्रवाद' एक सामूहिक मानसिक अभिवृति (एटीट्यूड) के रूप में आदिकाल से मौजूद रहा है। मानसिक अभिवृत्ति का प्राकट्य सांस्कृतिक अनुष्ठानों में होता है। यह द्रष्टव्य है कि ये अनुष्ठान किसी न किसी रूप में भारत के दूर दूर इलाकों तक होते रहे और इनसे विभिन्न राज्य राजनीतिक अलगाव के बावजूद 'राष्ट्रीय एकत्व' में बन्धे रहे। इनकी प्रकृति परा–राज्यीय (ट्रांस–स्टेट) थी और इनके मूल में समराष्ट्रीयता का अभिप्राय काम करता रहा । ऐसे अनुष्ठानों में स्वयंवर प्रथा, जन्म से लेकर मृत्यु तक के सामूहिक जशन और शोक या सर्वग्रासी चक्रवर्तित्व की कामना आदि बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ऐसे उपक्रम राजनीतिक सीमाओं की चिन्ता किए बगैर किए जाते रहे और इनसे एक अवस्तरीय (सब लेवल) राष्ट्रवाद पनपता रहा । हम यह भी कह सकते हैं कि इस राष्ट्रवाद ने राजनीतिक विखण्डन को मान्यता नहीं दी बल्कि इस देश का सम्पूर्ण बुनियादी भूगोल अक्षुण्ण बनाए रखा । वस्तुतः इस राष्ट्रवाद के निर्माण में यहां के मूलभूत भौगोलिक विराटत्व ने ही सामग्री प्रदान की थी। हिमालय विन्ध्य और गंगा जमुना–ब्रह्मपुत्र–कृष्णा और उग्ररूपी षड्ऋतुओं और घाटियों–पठारों–शाद्वलता–मरुओं के रूप में। ये और इनसे उपजी–जुड़ी विविध धारणाएं इस देश के जन–जन में युगों से रची बसी हैं। इसी सांझी अभिवृत्ति को हम भारतीय राष्ट्रीयता कहते हैं।

इसके विपरीत विदेश में राजनीतिक विभाजन के साथ राष्ट्रीयता भी विभाजित हो गई। उदाहरण के तौर पर यूरोपी भूखण्ड, दक्षिण–पूर्वी एशियाई द्वीप समूह या अफ्रीकी सहराई देशों को देखा जा सकता है। इनमें राष्ट्रीयता,भौगोलिक समानता या संलग्नता के बावजूद राजनीतिक खण्डों को पार नहीं कर सकी इसलिए इन देशों की अपनी अलग राज्यीय संस्कृतियां हैं जो इनकी राष्ट्रीय संस्कृतियां भी हैं। नृवंशीय (एथनिक) दृष्टि से इन भूखण्डों में भारतीय भूखण्ड जैसी विविधता भी नहीं ।

भारत में केवल राजनीतिक उपक्रम से देश की एकता बनाए रखना सम्भव नहीं था यदि यहां कोई देश व्यापी सांस्कृतिक एकता नहीं होती । राजनीति स्वयं में 'एक्सक्लूसिव' होती है जबकि संस्कृति 'इनक्लूसिव' होने के कारण सबको बांधती चलती है। राजनीति जब एक जैसी भूगोलोत्पन्न आदतों और समान रुझानों में ढले–पले मनुष्यों को साथ लेकर चलती है तो सामूहिक स्वीकृति की बुनियादें तैयारी करती है, जिन पर राज्य टिका रहता है। इस प्रकार स्वार्थ के उद्देश्य के साथ ही सही, राजनीति भी भूगोल–जात जन–संस्कारों (आदतों और रुझानों का

योग भी संस्कार का एक निर्माता तत्व है) की सहायता लेती है और यों राजनीतिक एकता क़ायम होती है।

भारतीय राष्ट्रीयता का मूल उत्स भारतीय संस्कृति है जिसका स्वरूप सदा पराराजनैतिक तथा पराराज्यीय रहा है। यह संस्कृति तब तक राजनीतिक अन्तरों और विविधताओं से ऊपर रही है जब तक किसी आकस्मिक बाढ़ की तरह इसे समूल उखाड़ने के प्रयास नहीं हुए या भीतरी विस्फोटों ने इसका सिलसिला तोड़ने के लिए जान की बाज़ी नहीं लगा दी । उपराष्ट्रवाद वस्तुतः राजनीतिक विखण्डन की उपज है। और संस्कृति की सम्पूर्णता परक प्रेरणाओं के कमज़ोर पड़ने पर फलता है। उपराष्ट्रवाद की धाराएं पहले भी भारतीय मानस सागर के भीतर बहती थीं, आज भी बहती है। इनसे अलगाव की भावना पनपती है पर सबके ऊपर भारतीय राष्ट्रवाद की मूलधारा अविभक्त रही है। इस धारा की जड़ें संस्कृति में हैं और यह लोगों की मनोभूमि को उपजाऊ बनाए हुए है। साहित्य भी एक सांस्कृतिक अनुष्ठान है, इसलिए राजनीतिक विभाजन के बावजूद भारतीय साहित्य में द्रष्टव्य है तो सांझापन है, समान प्रेरणाओं, चिन्ताओं तथा सरोकारों की उपस्थिति है, भक्ति आन्दोलन जैसे शुद्ध सांस्कृतिक अनुष्ठानों का प्रतिफलन है, जिसने दूर दूर तक छोटे बड़े साहित्यिक प्रयत्नों को जीवनदान दिया । भारतीय साहित्य का अध्ययन नृवंशीय विकास के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण हो सकता है क्योंकि विभिन्न प्रजातीय पृष्ठभूमि वाले आर्यों और अनार्यों नगरवासियों और वनवासियों संगठित शहरियों और जन–जातियों, सबने रामायण महाभारत ही नहीं, पौराणिक औपनिषदिक अभिप्रायों (मॉटिफों) को अपने जीवन चिन्तन में ढाला और यह चिन्तन इन परा भारतीय (ट्रांस इंडियन) अभिवृत्तियों को समर्पित किया ।

यह सत्य है कि साहित्य और अन्य सांस्कृतिक संस्थाओं की पारम्परिक भूमिका पर आज के नाभिकीय तथा विद्युत्कणीय (इलकेट्रानिक) युग में प्रश्न चिन्ह लग सकता है। आज उपग्रह के द्वारा संचार–व्यवस्था ने संप्रेषण की प्रकृति को इतना बदल दिया है कि मुद्रित साहित्य की उपयोगिता के बारे में सन्देह पैदा हो गया है। शायद अब शब्दार्थमय साहित्य के कर्म और अभिप्राय को नए मापदण्डों से मापना होगा। इलेक्ट्रानिक साधनों ने अन्य सर्जक कलाओं जैसे नृत्य, संगीत, मूर्तिकला, चित्रकला का सम्प्रेषण ज़्यादा प्रभावी और व्यापक बना दिया है। इनसे इनकी सृजनप्रक्रिया किसी हद तक प्रभावित होती है। कुछ शास्त्रीय मानदण्डों के अतिक्रमण की शिकायतों को छोड़कर अधिकांश आलोचक इन साधनों से इन कलाओं का लाभान्वित होना मानते हैं। साहित्य को अभिनीत किया जाकर उसका

सम्प्रेषण केवल एक सीमित क्षेत्र में बढ़ाया जा सकता है। परन्तु साहित्य की प्रकृति की रक्षा शब्द तथा अर्थ के बीच विद्यमान छायाओं की रक्षा से सम्भव है और यह रक्षा प्रक्रिया सर्जक तथा ग्राहक के बीच अनवरत मनन और प्रतिभा–सम्भूत क्रिया प्रतिक्रिया से पूर्ण हो सकती है। साहित्य केवल श्रवण या केवल दर्शन नहीं अपितु यह वस्तुओं के बारे में बोध और धारणाओं के सतत निलम्बन, परीक्षण तथा स्थापना की अपेक्षा करता है। निलम्बन के दौरान बोध का विस्तार होता है तथा धारणाएं बनती जाती हैं। इतना ही नहीं। शब्द अर्थ देने के बाद भी पदबन्ध वाक्य और अन्य तरह की सज्जाओं में अपने व्यक्तित्व को बनाए रखता है। उसकी एक आलंकारिक इयत्ता भी होती है। वह स्वतन्त्र रूप से तथा अन्य शब्दों के साथ अन्योन्य सम्बन्ध निभाते हुए बार–बार तथा देर तक आंखों के सामने रहता है तो अर्थों की छायाएँ उभरती हैं और सम्प्रेषण पूर्ण होता है। साहित्य एक ही समय तथा एक साथ रचयिता मन लिखित शब्द तथा ग्राहक मन के बीच जीवन्त सम्पर्क तन्त्र पर आधारित होता है जो कम्प्यूटर में बन्द होकर सदा के लिए एकरंगी अभिव्यक्ति से रुद्ध हो जाएगा । ऐसे में साहित्य के रूढ़ अभिप्रायों जैसे मनोरंजन, उदात्तीकरण, विचारोत्तेजन या भाव ग्राह्यता के तीव्रीकरण में बाधा आ सकती है और इनके स्थान पर कुछ दूसरे अभिप्राय निश्चित हो सकते हैं जो चिरस्थाई प्रभावों पर निर्भर नहीं भी हो सकते। 'स्मृति' केवल कोष नहीं कि जिस से जब चाहें उपयोगी या सामयिक भाव–भावनाओं को बुलाकर प्रयुक्त करें। कम्प्यूटर की स्मृति आवश्यकतानुसार (बड़ी सरलता के साथ तथा अक्षुण्ण रूप में) अनुभवों–अनुभूतियों को पुनः प्रस्तुत करती है पर मनुष्य की जैविक शक्तियों से रची स्मृति की तरह बोध और भावना को पुनः सृजित या नवसृजित नहीं करती । कम्प्यूटर की स्मृति के साथ न आसंग न भाव और न ही रसनिष्पति की प्रक्रिया में सहायक कोई तत्व जुड़ा हो सकता है। उसकी स्थिति निरपेक्ष होती है। साहित्य एक गम्भीर संकुलित (कंप्लिकेटिड) सापेक्ष प्रक्रिया से सम्भव होता है तथा भाव–विभाव के अनवरत संघर्षण से रचनात्मक और अतः संजीवनी ऊर्जा से सम्पन्न होता है। इसकी नितान्त ताज़गी बनाए रखने के लिए इसके अवयवों शब्द और अर्थ को एक ही बार सदा के लिए रचा रखने से बचाना आवश्यक है। पुस्तक में मुद्रित शब्द मूल रूप में भी मौजूद रहता है और सदा बदलते रहने के प्रति खुला भी । वह अन्य शब्दों से लगातार बदलते सम्बन्धों से समृद्ध होता है। वह एक ही रूप में केवल बोले या सुने जाने पर खत्म नहीं होता, न ही उसी रूप में बार–बार बोले या प्रस्तुत होने में पूर्ति प्राप्त करता है। निरन्तर नव्यता की तलाश में लगा रचयिता मन उसकी एक बार की रचना से सन्तुष्ट नहीं होता और यही असन्तोष उसकी रचनात्मकता की प्रत्याभूति है।

विद्युत–संचार के लगातार परिष्कृत हो रहे माध्यमों से साहित्य कोई बहुत उपयुक्त प्रभाव नहीं प्राप्त करता, यद्यपि अन्य कलाएं और रचनात्मक माध्यम उससे किसी हद तक लाभान्वित हो रहे हैं। उपयुक्त हो या अनुपयुक्त ये प्रभाव सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के उपकरणों को दोलायित करते ही रहेंगे। मशीनीकृत अभिव्यक्ति राष्ट्रीय भावनाओं को एक ही तरह से प्रचारित प्रसारित होने में मदद दे सकती हैं पर इससे शायद देश का सन्तुलित सांस्कृतिक विकास नहीं हो सकता। सांस्कृतिक विकास की पहली सीढ़ी सामान्य शिक्षा और सूचना की है। वैश्वीकरण के इस युग में भी इनके विकास की नीति देशी–विदेशी फार्मूला से लगातार परिवर्तन और द्रवणशील बनी हुई है। देश में शिक्षा का स्वरूप कहीं सस्ते में उपलब्ध सूचना मात्र का है तो कहीं संकुल (कांप्लिकेटिड) ज्ञान–विज्ञान को महंगे दामों उपलब्ध कराने का है। शिक्षा के देशी सक्षम प्रचार माध्यमों (अर्थात् देशी भाषाओं) को अंग्रेज़ी हड़प रही है जिससे देशी संस्कृति की मूल ऊर्जा को ही कुंठित किया जा रहा है। दुर्भाग्य यह है कि संस्कृति के नीति–निर्धारण तथा कार्यान्वयन की पहल राजनीतिज्ञ के पास है। उसने राष्ट्र–चेतना को अपने प्रचार–पत्र में पहले नम्बर पर दर्ज किया है, पर वस्तुतः उसे अपनी राजनीति के अस्थाई तथा द्रवणशील रूप को बनाए रखने की चिन्ता है कि मानवस्थितियों को चतुराई से अपने पक्ष में ढालने, फिर निढाल कर देने और फिर टालने का उसका कार्य चलता रहे।

इस प्रश्न पर ज़रा गौर से सोचने की ज़रूरत है कि क्या साहित्य बनाम राजनीति के कुख्यात मुकदमे में राजनीति को हमेशा मुलज़िम के कठघरे में ही खड़ा किया जाना चाहिए? सामाजिक व्यवस्था को स्थिरता देने और वैध बनाने के लिए राजनीति आवश्यक है। पर जो समाज की अंगी है वह समाज के अंग को ही चुभने लग जाए और निरपेक्षता (एबसल्यूटिज़्म) की स्थिति प्राप्त करने को प्रवृत्त हो तो उसकी प्रकृति और उसका कर्म चिन्तनीय हो जाता है। राजनीति जब निरपेक्षता का दर्जा प्राप्त करने लगती है तो संस्कृति जैसे राजनीति के बाहर के अनुष्ठानों को भी नियमित करने लगती है और लगता है कि भारत जैसे देश में राष्ट्रीयता का यही बदल (विकल्प) है। इस विचार को अब ज़्यादा मान्यता प्राप्त नहीं कि संस्कृति एक अतिसंरचना है। भारतीय संदर्भ में शहरीकरण और खुली पूंजीवादी व्यवस्था के बावजूद संस्कृति अभी भी रक्तमांस में बसी है और आधुनिक राजनीतिक या वैज्ञानिक क्रान्तियों को रक्त के बीच विद्यमान लालकोशिकाओं से मिलाकर ही देखती परखती और स्वीकारती है। अतिसंरचना के तर्क की आड़

लेकर आपात–स्थितियों के दौरान राजनीति संस्कृति को अनावश्यक घोषित करती है और संस्कृति के सस्ते संस्करण के प्रचारक साहित्य संगीत तथा अन्य कलाओं को राजनीति की अनुगामी बनाने की हर सम्भव कोशिश करती है। इस कोशिश को राष्ट्रीय प्रयास का नाम दिया जाता है। आपात–स्थिति हमारे जीवन का सच है और इस सच को कभी समाज तथा संस्कृति दोनों के समर्थन की आवश्यकता पड़ सकती है। पर यह सहायता शुद्ध परीक्षित सांस्कृतिक प्रयासों से ही सम्भव है, ऐसे प्रयासों से जो अनुकूल परिस्थिति में और किसी आकस्मिकता के दबाव की अनुपस्थिति में हो चुके हों और जिनकी प्रेंरक तथा उत्प्रेरक (कैटेलिस्ट) शक्ति को परखा गया हो। साहित्य आपात कालीन रचना नहीं, शान्ति के क्षणों में मनन की उपज है और इसकी सामाजिक उपादेयता निस्सन्देह है। पर साहित्य को उपादेयता की बदलती मांग के अनुसार बदला जाएगा तो यह अनुपयोगी बनकर रह जाएगा। इसी प्रकार सामाजिक दबाव से प्रस्तुत साहित्य की धार भोथरी होगी और वह अन्ततः प्रभावहीन होकर रह जाएगा। केवल एक अपवाद की स्थिति है जिसमें साहित्य सामाजिक आलोड़न से सीधे जुड़ता है और जन्म लेने में समय का छोटा अन्तराल लेता है। ऐसा तब होता है जब आपातकाल दीर्घ हो जाए और जीवन के मूल उत्सों तक उतरता चला जाए। लम्बे राष्ट्रीय आन्दोलनों से प्रेरित साहित्य में काफ़ी कुछ मूल्यवान होता है तथा सांस्कृतिक स्थैर्य प्राप्त करता है। प्रेरणा और उद्वेलन रचयिता के सामाजिक संकट के प्रति संवेदनशीलता के अनुपात से ज़्यादा या कम होते हैं। संवेदनशीलता और प्रभावी अभिव्यक्ति अन्ततः कृतिकार के व्यक्तित्व और सांस्कृतिक परिपक्वता पर निर्भर होते हैं। देश की एकता के टूट जाने या शत्रु के चढ़ आने से अस्तित्व मात्र के संकट ग्रस्त हो जाने का सच समर्थ साहित्यकार को उद्वेलित करता है तो उत्तम रचना हो सकती है। पर ऐसे संयोग कम होते हैं। नरूदा, पिकासो, हेमिंग्वे, गोर्की, साल्झेनेत्सिन, फैज़, यशपाल, सर्वेश्वर, अज्ञेय, हुसैन जैसे नाम अपवाद है और ऐसे संयोगों की पुष्टि करते हैं। इनकी कुछ आपातकालीन रचनाएं स्थाई महत्व की हैं।

स्थाई महत्व वह कसौटी है जिस पर निरा राजनीतिक प्रयास खरा नहीं उतरता। यह अजीब बात है कि राजनीतिक प्रक्रिया से हमारे सामाजिक जीवन का समवेता अस्तित्व स्थायित्व पाता है, पर राजनीति स्वयं किसी स्थायित्व की ज़मानत नहीं देती । वास्तविकता यह है कि राजनीति जीवन के बाहर भीतर की बदलती सचाइयों के टकराव से जन्म लेती है और इस बदलाव को रोक के रखना चाहती है। जब तक राजनीति जीवन के पारद स्वभाव को थामती और उसकी थाह लेने लगती है, जीवन और बदल चुका होता है। सवाल जीवन की मूलभूत प्रकृति

का है जो अपने नियमों से निर्धारित होती है। बाहरी सामाजिक परिवर्तन उसे विचलित कर सकते हैं पर उसके रूझानों तथा प्रवृतियों में आमूल परिवर्तन नहीं कर सकते। राजनीतिक उद्वेलन उत्तेजना पैदा करने में लगा होता है पर उत्तेजना पर आधारित कोई भी राष्ट्रीय परिकल्पना स्थाई नहीं हो सकती । राष्ट्रीय आत्मा को खरोचे बिना कोई भी प्रयास केवल त्वचा की खरोच है जो खुरंड जम जाने तक ही दिखती है। आत्मा तक कैसे पहुँचा जाए यह साहित्यकार ही की क्षमता होती है। शारीरिक उत्तेजना पैदा करने की स्वच्छंदता का सुख भोगने वाले लेखकों का भी एक वर्ग है, जो संवेदनशीलता के स्थान पर समाज में संवेदनशून्यता को बढ़ावा देते हैं क्योंकि वे सस्ते मनोरंजन या पलायन का साहित्य रच कर एक समानान्तर अशोभनीय दुनिया रचते हैं। इस के द्वारा आगे चलकर एक अन्तहीन विषम स्थिति बनती है क्योंकि निहित स्वार्थ वाली राजनीति इस सस्ती दुनिया का सपना चरितार्थ कराने की सार्वजनिक मुद्रा अपना लेती है और राष्ट्रीय व्यक्तित्व का आलवाल छिन्न–भिन्न होले लगता है। उत्तेजक काम, अभियानात्मक अपराध और हत्याकांड़ों के सर्जक चितेरे उत्तेजनाओं को बनाए रखने की नवीनतर प्रक्रियाएं और सम्भावनाएं सोचते रहते हैं और इस तरह पीढ़ियों की पीढ़ियों को समवेत समाजों की विघटनकारी शक्तियों के अधीन कर देते हैं। इसी तरह एक और प्रकार का लेखक खोखले और अवास्तविक रोमानी संसार की मरीचिका का चितेरा होता है । यह लेखक भी विघटन और विभेदन की सामग्री तैयार करता है क्योंकि वह वास्तविक जीवन से जूझने की ऊर्जा को मूर्च्छित कर देता है। ऐसे में श्रेयस्कर स्थिति वह है जब राजनीति और समाज दोनों साहित्य को यथा सम्भव स्वतन्त्र और निरपेक्ष छोड़ने को प्रतिबद्ध हों और साहित्य की इन दोनों में सांस्कृतिक पक्षधरता बढ़ाने की प्रतिबद्धता हो, जिससे इनकी सकारात्मकता तथा स्थिरता की प्रत्याभूति मिले। संस्कृति के सरोकारों से समृद्ध और ज़िम्मेवार अंतःप्रेरणा से प्रसूत साहित्य ही राष्ट्र की अस्मिता की रक्षा तथा एकता में सहायक हो सकता है। हमें समाज का विकास सावधानी के साथ और अनुशासन में रहते हुए योजनाबद्ध तरीके से, अन्तर्वर्ती 'रोकथाम तथा सन्तुलन' की विधि से करना होगा । यह राजनीतिक नेतृत्व के द्वारा ही हो सकता है। ऐसा करते हुए राजनीति खुद स्थाई मूल्यों से आभूषित हो जाएगी । यह आदर्श राजनीतिक स्थिति है। दूसरे, ज़िम्मेवारी और अन्तःप्रेरणा से रचे जाने वाले साहित्य के लिए यह परिप्रेक्ष्य बड़ा लाभकारी हो सकता है। ज़िम्मेवार साहित्य राष्ट्र को सांस्कृतिक सूत्र में बांधने की दिशा में अच्छा योगदान देता है।

हस्तक्षेप का व्याकरण

1. जयशंकर प्रसाद ने जब 'आंसू' का दूसरा संस्करण संशोधन के बाद प्रकाशित कराया या 'निराला' ने जब अपनी कविताओं के बाद के संस्करण संशोधित किए तो आलोचकों ने हल्ला किया कि लेखक या तो सामाजिक अनुकूलता की रौ में बह गया है या खुद को आभिजातों के वर्ग में बिठाने को लालायित है। यानी कि वह अपने आत्म के प्रति तथाकथित लेखकीय ईमानदारी निभा नहीं पाया है। लेकिन वास्तविकता तो यह है कि यदि स्वयं को अपने टेस्टों से गुज़रने न देना ही ईमानदारी की कसौटी है, तो अधिकांश लेखक बेईमान करार दिए जा सकते हैं।

अपने टेस्टों का न कोई समय निश्चित होता है न स्थान। वे लेखक के व्यक्तित्व के संघटन के समान्तर सक्रिय रहते हैं और कौन कह सकता है कि लेखक नैसर्गिकता के नशे में इतना निस्संज्ञ हो जाता है कि अपनी भी रचना–प्रक्रिया के दबाव नहीं महसूसता ।

रचना–प्रक्रिया ही आत्म–परीक्षाओं की एक सिलसिलेवार छन्नी है जिसे इनकारने से या जिसके प्रति अचेत रह कर हम उसका अस्तित्व भुला नहीं सकते।

मनोविश्लेषक तथा मनोविश्लेषणवादी आलोचक रचना–प्रक्रिया की आकस्मिकता और अनायासत्व पर कितना भी जोर दें पर रचना चूंकि कला भी है (बहस पुरानी है, बहरहाल कलात्व छाया रहा है और रचना की सम्पूर्णता में महत्वपूर्ण रहा है) इसलिए सायासत्व रचना की शर्त होता है। रचना भर करके

ही आज के रचयिता की इति नहीं, खुद को और अधिक सम्प्रेषित करने की ज़रूरत लेखक लिखने के अलावा बुलवाती है, गढ़ने या घड़ने के अलावा लिखवाती है और नाचने या गाने के अलावा शब्द उकेरवाती है। रचना गठीली होती है, रचनाकार निरन्तर अपूर्व आन्तरिक तथा बाह्य टकराहटों को अनुभव करता चलता है, इसलिए उसकी रचना इन उद्वेलनों की धड़कन लिए होती है। वह कला के उपकरणों का सर्वोत्तम प्रयोग करने की क्षमता रखता है इसलिए उसके पाठक–भावक उन उपकरणों की ठोक–पीठ के चिह्न खोजते चलते हैं । भावक की उपस्थिति उसे प्रिय हो कि अप्रिय, उससे इनकारी नहीं जा सकती । आलोचक की एक दृश्य छाया भी उस पर मंडराती है और वह खुद–ब–खुद आत्म–परीक्षाओं के क्रम में पड़ता रहता है। सहजता का अर्थ संज्ञा–शून्यता नहीं ।

2. दूरदर्शन के लिए मैं एक नाटक लिख रहा था । (मतलब यह नही कि अपने लिए नहीं लिख रहा था।) एक अध्यापक एक छात्र में ज़रूरत से ज़्यादा दिलचस्पी लेता है । उसने छात्र के लिए छात्रवृत्ति जुटवाई, उसे पुस्तकें मुफ़्त दिलवाई, अपने विषय में उसे काफी प्रवीण कर दिया, आदतन । लड़का उत्तर स्नातक कक्षा में ज्ञान की वृद्धि के लिए गया – उस प्यास को बुझाने के लिए, जो अध्यापक ने जगाई थी । पर घर की स्थिति अनुकूल नहीं थी। बूढ़े मां–बाप, भाई–बहनों की भरमार। एक भाई बटमार, दूसरा सिनेमा ब्लैकर, एक बहन किसी के साथ भागी, दूसरी डोरे डालने में व्यस्त, मां अन्धी और ऐसे में वह लड़का विद्यार्जन पर बज़िद । परिणाम यह कि दिमागी सन्तुलन खो बैठा । अध्यापक के घर पहले की तरह आता रहा और उसकी पत्नी तथा बच्चों के लिए समस्या पैदा हो गई । अध्यापक क्या करे ? मार भगाए पागल को, जो आसान तरीका है। या स्थिति की ज़िम्मेदरी खुद पर ले। उसे कुछ करना होगा, स्थिति का प्रेत पानी मांगता है, नहीं तो भूंचाल बरपा कर देगा । नाटक को प्रभावशाली बनाने के लिए फैंटसी का सहारा लेकर निर्णय की अनिवार्यता की ध्वनि निकाली जा सकती है, या अध्यापक की टूटन की अंतरंगता को अभिव्यक्ति दी जा सकती है कि दर्शक का मन भारी हो जाए । और भारी अन्त वाला 'खेल' हिट होता है। आलोचना के कई जीवन–मृत पारम्परिक प्रेतों ने कई दिनों लगातार साला। 'प्रेत' नाम से 'मारबिडिटी' की बू आती है। (शीर्षक पर बहस सर्वप्रथम स्थान लेती है) 'घेरे' में ' घेराव' की ध्वनि आती हैं जिसे प्रोत्साहन देना (मतलब इस शब्द के प्रयोग की गुंजाइश रखना) हमारी राष्ट्रीय नीति नहीं, इसलिए 'घेरो से बाहर' हो या 'अन्दर' दोनों समान हानिकारक शीर्षक हैं। 'दायरे' ठीक हैं, बेचारा हार्मलेस ज्यामितिक आकार । कोई बात नहीं कि नाम 'दायरे' से बाहर' छोड़कर 'दायरे तोड़कर' या

'दायरे फलांग कर' भी हो – दर्शक जब तक कागज़ पर बने वृत्त के उचककर नाटक का शीर्षक बनने की तुक समझने लगें, तब तक नाटक का कथ्य उनके दिमाग से उचककर बाहर जा चुका होगा। और भी अच्छा है।

बाहरी आलोचनात्क दबाव प्रेत हो सकते हैं बल्कि आपको सुविधा हो, तो उन्हें 'वैम्पायर' कह सकते हैं पर भीतर का आलोचक ? उसने मेरा अहम जगाया। ठीक है, यह धारा के विरुद्ध जाना होगा, इसमें किसी विचार की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ सकती है मगर है यह सही 'कनविक्शन' का प्रश्न । अध्यापक उस 'फ्रैंकस्टाइन' को स्वीकार करेगा और उसे पुनर्मानवीकृत करेगा । यह प्रक्रिया पर्दे के बाद की है मगर पर्दे पर उसकी प्रतिबद्धता का संकेत उभरना चाहिए। 'चाहिए' में आत्मनिर्देशन की अनुगूंज थी। 'चाहिए' एक लगातार विकासमान प्रक्रिया (या परिवर्तनशील क्रिया–प्रतिक्रिया ही कहें) की परिणति है, जिसका रूपाकार पठन–मनन, परिवेश–प्रेक्षण में उभरता है। 'चाहिए' साभिप्राय सक्रिय हस्तक्षेप का द्योतक है जो रचना का शील निर्धारित करता है। 'नहीं चाहिए' इसी का दूसरा संस्करण है।

3. नरेन्द्र कोहली ने कहीं लिखा है कि वे तब पढ़ते हैं जब लिखते हुए बीच में सुस्ताना चाहते हों और इसी प्रकार पढ़ते हुए लिखते हैं। अर्थात् अपने भीतर उभरते आलोचक की सम्भाव्य ज्यादतियों से खुद को मुक्त रखने की सम्भावना में रचनाशील रहते हैं। नयी कविता के प्रतिपादक दार्शनिक व्याख्या–गुरुओं ने अनुभावन की क्रिया को अभिव्यक्ति के समय अक्षुण्ण बनाए रखने पर ज़ोर दिया जिसकी एक अति 'प्रपद्यवाद' थी । पर साथ ही वह बहुत सावधान रहे कि कविता में कहीं वही न आ जाए जिसके विरोध में वह खड़ी है। 'जन' आया पर 'जनता' को पास फडकने नहीं दिया गया । बल्कि अपनी सुविधा के लिए 'जन' को जनता से अलग कर दिया गया तथा इस शब्द की गरिमा पर भाष्य रचे गए । जनता को अमूर्त तथा जन को संवेदनशील इकाई कहकर महिमामण्डित किया गया । अर्थात एक शासन–अनुशासन के विरोध में दूसरे प्रकार का स्वैर–शासन रचा गया और जब स्वैरी, अकविता के आत्मपीड़क एकान्त रोदन में जाकर ध्वनित हुआ तो हाहाकार मच उठा ।

4. हस्तेक्षप से कोई निस्तार नहीं, चाहे रचना को स्वायत्त सिद्धान्त से ही परिचालित कहा जाए । स्वयं–भू कवि से आशा थी कि कुमार का सम्भव ही नहीं दिखाए बल्कि स्थिति को उसके तर्कसंगत परिणाम तक भी पहुँचाए । पर उसने खुद अपना अंकुश खुद पर लगाया । उससे यह आशा नहीं थी कि नायक केवल

ब्रह्म पुरुष हो बल्कि ब्रह्म–सुलभ चरित्र का स्वामी भी हो । मगर उसने चारुदत्त को वसन्त सेना के वेश्याजाल में डाल ही दिया । लेखक के अपने अस्तित्व, अपने तर्कविकसित व्यक्तित्व या अपनी परिवेश–पोषित अभिवृत्तियों की सीमाएं तथा विस्तार उसके कथ्य को संगति का बल देते हैं। यह ठीक है कि कथ्य के भीतर उसकी अपनी भी विशिष्ट गति होती है जो उसे अभिव्यक्ति तथा अन्वेषण में सहायता देती है। ऐसे में उसे समझने के लिए उसकी गति तथा यति के व्याकरण का ही अनुसरण करना चाहिए । मगर कृति जिस मंथन का परिणाम होती है उसके नियन्ता आखिरकार उन बाह्य तत्वों में मौजूद होते हैं, जिनसे जीवन की आउट लाइन उभरती है। और जीवन की परिसीमा इतनी विस्तृत है कि उसके भीतर स्वायत्तता की गुहार लगाता हुआ हर स्वतन्त्र एकांश व्यापकत्व तथा पूर्णत्व की आपूर्ति से अनुकूलित हुए बिना नहीं रह सकता। ऐसे में स्वायतत्व तथा निरपेक्ष स्वातन्त्र्य की बात दम्भ लग सकती है।

5. हस्तक्षेप के स्वरूप की चर्चा से अब छुटकारा नहीं, क्योंकि उसे हम चाहे–अनचाहे जाने–अनजाने होने देते हैं। और इस हस्तक्षेप की शर्त है ज़िन्दगी को हमारी शर्तों पर नही बल्कि इसकी शर्त पर समझना और समझाना। इस बात पर दो राय नहीं हो सकती कि ज़िन्दगी की शर्त है इसे जीवन्तता देना, इसे बनाए रखना, इसके मूलों को संजीवनी देना । इसे न समझने या उपेक्षित करने का उपक्रम कृत्रिम होगा क्योंकि तथाकथित मृत्यून्मुखता केवल कागज़ पर उतारा गया निर्वीर्य क्रोध या नाराज़गी ही हो सकती है। जीवित रहने की कामना जबकि स्पष्टीकरण नहीं मांगती, न्यायसंगति के लिए प्रमाण नहीं चाहती, मृत्युकामना समझाने के लिए दर्शन को कई नये वाद, मार्ग, सम्प्रदाय और विधियां उकेरनी पड़ीं । दूसरे महायुद्ध से ध्वस्त योरुपीय जीवन को देखकर जो उबकाई एक फ्रांसिसी लेखक को आई, या मानव–प्रयत्न की निरर्थकता से उत्पन्न क्षोभ से एक अंग्रेज़ी लेखक ने मानव को जो खोखला बिजूखा बताया, वह कुछ देर के लिए दर्शन का आद्यमन्त्र बन गया। इधर साहित्यकार के भारतीय, अफ्रीकी और लातीनी अमरीकी अनुभव विशेष ने भी वही जामा पहना और अपनी हीन ग्रन्थि को छिपाने के लिए उसे और गठियाने के प्रयत्न हुए । यहां तो मृत्यु का अपना सस्ता संस्करण था जो बेकारी और बीमारी की जिल्दों में सर्वत्र सुलभ था और इसलिए भी यहां सकल पलायन मृत्यु की आकर्षक अभियान–वृत्ति के रूप में पेश किया गया । जिनको जीवन का एक घूंट नहीं मिलता उनके मुंह बाए सवाल का जवाब मृत्युकामना की चौंका देने वाली कथाओं में देने वाला लेखक आत्मछल के सिवा क्या करता है ? आत्म और अनात्म के बीच सन्तुलन बनाए रखने के उपक्रम

लेखकीय चेतना और लेखन की विधि बन जाते हैं। यह चेतन उपक्रम कदम–कदम पर ऐसे लेखकों की रचना में हस्तक्षेप करेगा ही।

:

फैसला

अदालत सकते में है
और फैसला
आखिरी अवकाश के अंत तक
उठा दिया गया है
उत्सुक दिशाएं लौटने लगी हैं
आरोपी क्या हुआ, कोई नहीं जानता
सिर्फ कुछ अबूझ आवाज़ें
सड़कों, गलियारों से गुज़र कर
घरों में घुस गई हैं
और सब शान्त हो गया है

कुछ सिरफिरी बेधशालाएं हैं
जो अब चौकस हो गई हैं
जब हवा सड़क से
धुएँ की आखिरी बूंद समेट कर
किसी गली में ब्याने चली है
और धूप
घोंसले का आखिरी तिनका
चोंच में उड़ा ले चली है

समय !
तुम किस इन्तिज़ार में हो
कि शुरू हो जाओ ?
यह कि खोई हुई नदी का मामला
तन से केंचुल की तरह उतार दूं
थकी हुई अदालत को
सदा के लिए अवकाश दूँ ?

—

अनुभव और सम्प्रेषण के बीच आध्यात्मिक सेतु : एक दृष्टि

सूरदास ने ही नहीं, तकरीबन सब भक्त कवियों ने अपने विशिष्ट अनुभव ('भगवत्प्राप्ति' के अनुभव) को गूंगे का गुड़ बताया, जो समझाना असम्भव है। पर यह सत्य है कि साथ ही वे उस अनुभव को समझने–समझाने का सतत प्रयत्न करते रहे। इस प्रयत्न में भाषा का संस्कार होता गया, शब्द बने, उक्तियां गढ़ी गईं, मुहावरे ढले और वाङ्मय सम्पन्न होता गया । ईश्वर की प्राप्ति उन्हें हुई या नहीं, यह वे जानें, पर जो हमको बता गए कि पाया, वह या तो 'नाम' था या 'चरित' या कथावृत्त का कोई 'मोटिफ', सुना–सुनाया अथवा कभी–कभी मनगढ़न्त। अर्थात् हमें यह बताया नहीं जो पा गए, बल्कि वह जो पाए भले न हों, पर बताने योग्य था, समझाया जा सकता था। केवल पाए हुए को बताने की शर्त का पालन करना होता तो कुछ बताना था नहीं क्योंकि यह 'मन–वाणी को अगम अगोचर' था। 'नाम' भी नहीं, 'कथा चरित' तो बिल्कुल नहीं । नाम या कथातत्त्व अगम–अगोचर नहीं। नाम मीरा ने पाया, कबीर ने भी; यद्यपि दोनों के लिए मूल अनुभव 'नाम' नहीं था। सूर–तुलसी ने मूल अनुभव की अपूर्णता को पूरा करने के लिए उसे रूप–रंग से भरा जिससे वह सम्प्रेषण के लिए सरल हो गया, हालांकि बे रूपरंग के भी अनुभव की रूपरंग तक ही सीमित करना नही चाहते थे। कवि इनको इनसे परे जाने का साधन मानकर चले क्योंकि उनका मूलानुभव 'नामातीत– –गुणातीत' था। 'अतीतत्व' की दशा के वर्णन के लिए परम्परापुष्ट रूढ़ियां कैसे सहायक हों इसलिए वर्णन रूढ़ियों के ही माध्यम से हुआ पर एक नए क्लीशे के प्रयोग से इनको संवर्द्धित करके। वह था जो है, जो दृश्य तथा अनुभव्य है उसका निषेध ।

अस्वीकृति का स्वर उभरा । वर्तमानत्व का निषेध। यानी कि जो है वह भी नहीं; जो हो सकता है, वह भी नहीं; जो तुम कभी भी कितने मनन के बाद कल्पित कर सकते हो, वह भी नहीं; जिसे ध्येय मानकर तुम वहां पहुंचना चाहो, उससे पहले ही चुक चुके होंगे। वह तुम्हारा भी गन्तव्य हो, पर वहां पहुंचने से पहले ही गति से बेखबर घिसट रहे हो, तो हो। इसलिए मेरा अनुभव अनुभव के आम अर्थ का निषेध करने वाला है, लेकिन जिसको पाना निषेध द्वारा ही सम्भव है और अतः निषेध के लिए निषेधव्य को समझना–समझाना ज़रूरी है। ... अलौकिक है यानी लौकिक नहीं यदि तुम लौकिक को ठीक समझ लो तो । और लौकिक क्या है ? रूढ़ियों का संकलन मात्र ही तो ।

भक्ति का अनुभव हो चाहे करुणा का; चाहे घृणा का, चाहे स्नेह का, यह काव्यानुभव है तो विशिष्ट होता है। भक्ति का अनुभव, खासतौर पर, अव्याख्येय होने लगता है। अनुभव की परिणति को प्रकट करना असम्भव बताया गया । उसका सम्प्रेषण रुद्ध हो गया । जीभ हकलाने लगी। प्रश्न उठता है कि क्या हर विशिष्ट काव्यानुभव सम्प्रेषण के समय लंगडाने लगता है, क्योंकि वह विचित्र और अपूर्व होता है ? क्या सम्प्रेषण एक वैसा ही कर्म नहीं जैसा अनुभव है? क्या अनुभव–कर्म के अतिमानवीय या परामानवीय होने की सम्भावना है जबकि सम्प्रेषण हमेशा सांसारिक सीमित साधनों के अधीन रहेगा ? ये साधन शब्द रंग और रेखा होंगे पर अनुभव के साधन अव्याख्येय होंगे ? अनुभव अलौकिक हो सकता है पर सम्प्रेषण लौकिक ही रहेगा ? अनुभव की अलौकिक स्थिति के समर्थकों ने संप्रेषण की भी एक अलौकिक स्थिति बताई है – मौन द्वारा सम्प्रेषण । उलटवांसी के चमत्कार की पुनर्रचना। एक विरोधाभास । मौन अर्थात् भाषण–श्रवण की अनुपस्थिति में ही श्रवण भाषण। यह स्थिति करीब वैसी ही है जिसे 'विशफुल थिंकिंग' कहा जा सकता है। कल्पित और इष्ट को घटित बता देना। मन चाही स्थिति की मन चाही निष्पत्ति । मौन सम्भाषण तथा मौनश्रवण इसी घेरे में पड़ते हैं। पश्चिमी आलोचना में कहे के बीच अनकहा छोड़ देना या ध्वनि का सम्भावित अर्थ समझने की सम्भावना एक नवीन तरह के साहित्य की सर्जना मानते हैं। पर वह मौन केवल साधन है, कहे को और उजागर करने का । और वह मौन किसी आध्यात्मिक मुद्रा का मौन नहीं, बल्कि केवल ध्वनि का एक साधन है। 'मौन–साहित्य' में श्रवण–भाषण के उपकरण अर्थात् शब्द की अनुपस्थिति नहीं होती, बल्कि शब्द काफ़ी समर्थित और परिपुष्ट होता है। लिखित या कथित शब्द इतना अर्थगर्भित होता है कि अलिखित की तकरीबन आवश्यकता नहीं रहती । शब्दों के बीच की रिक्तियां बहुत कुछ कह देती हैं।

यह सही है कि अनुभव संश्लिष्ट होता है, क्योंकि प्रभावग्राही मन एक–साथ कई उलझे व्यक्तित्वों का केन्द्र होता है। बाहर से पड़ने वाली छवियां मन की प्राकृतिक तथा अन्य तात्विक संरचनाओं में पड़कर कुछ से कुछ हो जाती हैं और बाहर आने के लिए 'नाम' 'आकार' ' रंग रूप' आदि का माध्यम ढूंढ लेती है। जब सही माध्यम नहीं मिलता तो सम्प्रेषण की समस्या पैदा हो जाती है। माध्यम न मिलने का यही एक कारण नहीं होता कि मूलतः माध्यम ही अपूर्ण या अशक्त है, बल्कि अधिकतर सम्भावना इस बात की होती है कि रचयिता का पर्याप्त मानसिक विकास नहीं हुआ है। उसने भाषा पर पर्याप्त अधिकार नहीं पाया है। माध्यम–भाषा न्यूनता ग्रस्त हो सकती है। एक सामाजिक संस्था होने के कारण भाषा अपना जीवन समाज से पाती है। यदि समाज भौतिक विकास की यात्रा में पिछडा रहा तो उसका सांस्कृतिक विकास पिछडा रहेगा; क्योंकि सांस्कृतिक विकास (भाषा–साहित्य जिसकी एक कड़ी है) भौतिक विकास के साथ सीधे अनुपात में जुडा रह सकता है। न्यूनता की स्थिति में समर्थ अनुभावक–कवि भाषा को नव संस्कार दे सकता है। यों भी, कोई भी भाषा सर्वथा और सर्वदा के लिए विकसित और पूर्ण नहीं हो सकती क्योंकि समाज की प्रगति का कोई भी चरण अन्तिम नहीं हो सकता । हर भाषा नई अभिव्यक्ति–समर्थताओं के अधीन होती है। ऐसा न होता तो विकसित भाषा की कसौटी नए–नए शब्दों की ग्रहणशीलता न होती । इसके लिए और समाजों तथा भाषाओं के साथ उसका सम्पर्क ज़रूरी होता है। शब्द दूसरी भाषाओं से सीधे आते हैं या रद्दोबदल के साथ । कभी उन शब्दों की प्रेरणा से ग्राहक भाषा के शब्द सुसंस्कृत हो जाते है। इस प्रकार यह एक सामूहिक क्रिया होती है – एक सामाजिक प्रक्रिया ।

सम्प्रेषण चाहे मौन भी हो, प्रकृत्या सामाजिक होता है। यह सत्य है कि जो अनुभव व्यक्ति–अभिमुखी होने में ही सत्य है, अभिव्यक्ति के समय वह निर्वैयक्तिक होने से ही साबित होता है। अनुभव के स्पष्ट कारण हमारी समझ में नहीं भी आ सकते हैं क्योंकि हमारे बोध की सीमाएं हैं – संश्लिष्ट (या कभी अतार्किक) बाहरी प्रभाव–श्रृंखला के कारण। समाज एक 'वायामीडिया' है और जो इसकी स्थिति और प्रभाविता से इनकार करता है – काव्यकर्म की पूरी प्रकृति और प्रक्रिया से ही इनकार करता है। सम्प्रेषण इस मीडिया के अधीन होता है और यदि अपूर्ण रहा तो कई दोष पैदा होते हैं। बहुत कुछ अनकहा रह जाता है, (अनकहे की विडम्बना पर ही कविता रचने के बावजूद) निष्पत्ति की प्रक्रिया अधूरी रह जाती है। यानी कि जो अनुभव वैयक्तिक था, सामूहिक सम्पर्क के अभाव में लक्ष्य भ्रष्ट हो जाता है। लक्ष्यभ्रष्टता को साधनाभ्रष्टता से अभिहित किया गया है और इसका

अभिशाप जन्मजन्मान्तर तक बताया गया है। सम्प्रेषण–अशक्यता की छाया भी रचना को घेरे रहती है। साधनाभ्रष्ट विकलांग–जन्म लेता बताया गया है – शरीर या मन से विकलांग । रचना के अपूर्ण सम्प्रेषण से ग्रस्त मन भी अप्रासंगिक हो जाता है – 'अनर्गल' और खुद रचना–दुरूह ।

अनुभव की 'मनवाणी को अगम अगोचर' वाली स्थिति केवल कहने की है, क्योंकि ऐसा कहकर भी उस स्थिति की व्याख्या या मात्र अभिव्यक्ति के लिए 'रूप रंग जाति जुगति' के साधनों का सहारा लिया जता है। नहीं तो फिर ध्येय या लक्ष्य में समा जाने की बात चलती है। ध्येय के साथ एकात्म होने की बात । मूल अनुभव के साथ अभेद होने की स्थिति । अभेद बाला अंश अपने लिए होता है या नहीं, यह विवादास्पद है पर इतना सही है कि वह किसी और के लिए नहीं होता । इस प्रसंग में भारतीय आचार्यों की मान्यता का प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है। मगर इन आचार्यों की उक्ति की एक और व्याख्या सम्भव है। काव्यानन्द को 'ब्रह्मानन्द–सहोदर' कहकर शायद आचार्यों ने इसकी स्वतन्त्र सत्ता पर ज़ोर दिया है। इसे ब्रह्मानन्द ही कहा जाता तो (नऊज़बिल्लाह) ब्रह्मानन्द की तौहीन नहीं हो जाती । वास्तव में 'सहोदरत्व' ने कल्पना के लिए बहुत कुछ छोड़ दिया है। समानता और तुल्यता से और कई सम्भव अर्थ लगाए जा सकते हैं और रचना प्रक्रिया विकसित तथा प्रसरित हो जाती है । अगर अनुभव अनुभावक को सम्प्रेषण की ज़िम्मेवारी से मुक्त करता है, तो वह अनुभव नहीं, उस अनुभव का ख़ुद कोई आधार नहीं, वह स्वयं स्पष्ट नहीं । अनुभव भ्रूण है तो अभिव्यक्ति जन्म । जन्म से मुक्ति की स्थिति में (या जन्म से निरपेक्ष रहने की स्थिति में, क्योंकि उपर्युक्त प्रमेय (हाइपाथिसिस) अनुभव को स्वयं सिद्ध मानता है) अनुभव नहीं ही होगा । उसका कोई अस्तित्व प्राक्कल्पित नहीं किया जा सकता । जन्म से मुक्ति मरण में सम्भव है । अनुभव की सम्प्रेषण–निरपेक्षता अनुभव की अकाल मृत्यु होगी । यह अजीब असम्भव प्रमेय है। क्योंकि इसमें अनुभव के उपकरण (मन) के ही अनस्तित्व का संकेत निहित है। मृत्यु का अनुभव अलग चीज़ है पर अनुभव की मृत्यु ? वह तो मात्र कहने की बात है और यह कहने की भी नहीं । अनुभव की मृत्यु से बचने की बात अस्तित्ववादी अतिवादियों ने भी कही थी, यद्यपि मृत्यु के अनुभव को जीने में वे एक खास मज़ा मानते थे – जिसे 'वरण की स्वतन्त्रता' कहकर वास्तव में मृत्यु का एक दर्शन ही बना डाला उन्होंने । यह दृष्टव्य है कि इस दर्शन की आधार भूमि एक विशिष्ट सामयिक समाज था जो दूसरे विश्वयुद्ध से बिद्ध था और अतः सब स्थितियों के लिए सच नहीं हो सकता ।

कविता की भूमिका के संदर्भ में

1. भूमिका की सम्भावना

भूमिका का 'पृष्ठभूमि या 'परिचायक उपक्रम' वाला सामान्य अर्थ चूंकि समसामयिक संदर्भ में पहले से न कुछ विशिष्ट और न ही विलक्षण है, इसलिए इसे छोड़ कर आगे बढ़ना होगा। कविता की ऐसी भूमिका समय समय पर बदले काव्य बोध और जीवन दृष्टियों का एक 'क्यूमलेटिव' अध्ययन प्रस्तुत करेगी और कविता के स्वरूप को सुदृश्य और सुग्राहय बनाकर पेश करेगी। पर भूमिका का एक और अर्थ है, जो इसके अभिप्रायों की समझ की मांग करता है और रचनाकार की रचना प्रेरणा का तर्क विश्लेशित करता है। यही अर्थ प्रस्तुत बहस की रूपरेखा निर्धारित करेगा। इस बहस में हम आज की कविता की मुद्रा पहचानने की कोशिश करेंगे और कविता में मौजूद संजीवनी शक्ति के सम्भव या असम्भव प्रतिफलन की जांच करेंगे। हम यह भी देखेंगे कि क्या कविता अपनी अभिव्यक्ति के लिए उपर्युक्त 'मेकैनिज़्म' तैयार करा सकी है कि नहीं।

2. कविता की सापेक्षता

कविता क्या है, इसकी प्रकृति, इसका तात्विक संघटन, इसके आस्वादन की प्रक्रिया, कवि के रचयिता मन में इसकी रचना प्रक्रिया तथा सहृदय वर्ग के साथ साधारणीकरण आदि की बहसों से भारतीय चिन्तक शुरू से ही जूझता रहा है पर पश्चिमी आलोचना के सम्पर्क से कवि के 'रोल ' का प्रश्न, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बाज़ाब्ता तौर पर उठाया और गम्भीरता से पश्चिमी दृष्टि की प्रासंगिकता भारतीय प्रसंग मे ढूंढी । तब से भूमिका ' रोल ' का पर्याय हो गई। इधर स्वाधीनता आन्दोलन से जो विस्तृत राजनीति–चेतना पैदा हुई, काव्य–चिन्तन में

इस चेतना की प्रतिक्रिया–प्रक्रिया को सन्देह तथा अतिशय सावधानी से देखा जाने लगा। हुआ यह कि इस शब्द का सरलीकरण हुआ और नेपथ्य में बैठे कुछ प्राम्पटरों ने इसके मुंह में नए पुराने रेडीमेड संलाप रख दिये – जैसे यह कि कतिवा समाज की प्रतिछवि होती है, कविता केवल अभिव्यक्ति–सुख के लिए लिखी जाती है, कविता क्रान्ति लाने के लिए हथियार है, श्रोता ऊपर नहीं उठ सकता तो कविता क्यों झुके आदि आदि । व्यक्ति और समाज के दरमियान कविता की उठापटक तकरीबन आलोचकों की ही उठापटक हो गई। कविता से क्रान्ति नहीं होती, सिर्फ कवि हुआ जाता है', कहकर भी कविता की भूमिका का सन्तोषजनक फैसला नहीं हुआ, क्योंकि सवाल उठा कि वह क्या कवित जो कविता तो करे, पर उसका विस्तार या प्रभविष्णुता न जानने काक मध्ययुगीन बाना पहन ले। कविता की दुनिया को छुई मुई मानने वालों ने यह भुला दिया कि काव्य रचना मूलतः एक प्रतिक्रिया है जो कवि व्यतित्व में ढलने के कारण सृजनात्मक होती है और स्वायत लगती है। यह स्वायत दुनिया कवि की गतिशील ऐतिहासिक या सामाजिक समझ की अनुपस्थिति मे रूपायित नहीं हो सकती। संवेदनात्मक कल्पना के विधाता के रूप में कवि स्वयम्भू हो सकता है, पर उसकी कविता निरपेक्ष नहीं होती। इस प्रकार के विचारकों के पास कवि के सर्जक मानस को मापने के लिए अन्ततः इस मानस के archetype आर्किटाइप तक जाना ज़रूरी हुआ। इस archetypes आर्किटाइपों की समझ और विश्लेषण के लिए गैरकविताई उपकरणों, जैसे धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र के साख्यों की ज़रूरत पड़ी तो स्वयं निरपेक्ष नहीं अन्योन्याश्रित हैं।

कविता से रातों रात क्रान्ति होने की माहन घटना के गवाहों का भी एक समुदाय था। यह समुदाय सपनों में ऐसे जुलूस देखता रहा, जिनके हाथों में ताज़ा पढ़ा हुआ 'चन्द्रगुप्त' या 'कर्मभूमि' या 'कुरुक्षेत्र' था। या जिन्होंने नागार्जुन की कविता पड़ी थी और फावड़े लेकर अपने अपने गांव में नक्सलवाडी बनाने जा रहे थे। इस समुदाय का दृष्टि संकट यह था कि वे भीड़ को समाज मान बैठे। इससे समाज की धारणा का अवमूल्यन हो गया। समाज के भीतर की शक्तियों की आपसी टक्कर तथा तनाव को उन्होंने नहीं पहचाना। यह नहीं जाना कि –

अपने ज़माने के कठोर दृश्यों का क्रम
इतना अनिश्चत है
कि दर्शक बना जा सकता है / और न अभिनेता ।
सिर उठाने के बाद ज़िन्दगी अगर कुछ है

तो सिर्फ अपने खड्ड का अतिक्रमण ।

— (जगूडी)

निहित हितो के द्वारा राजनीति पर हावी होकर देश की उन्नायक गतियों को धीरे धीरे रुद्ध करने या उन्हें स्वल्प त्वराहीन जीवन जीने भर की इजाज़त देने के प्रति वह प्रगतिवाद की यह प्रतिक्रिया थी जो 47 के बाद व्यक्त होती रही, मगर इसमें संजीदगी और गहराई आई। पहले, प्रगतिवाद ने जो निर्व्यक्तिक सार्वजनिकता का स्वर उभारा था, वह इधर व्यक्तिक गरिमा से मंडित हुआ और इस प्रकार के दृष्टि बदलाव से हमें मुक्तिबोध, शमशेर, जगूडी, सर्वेश्वर तथा धूमिल के व्यक्तित्व प्राप्त हुए। यदि क्रान्ति को अगले ही मोड पर देखना निरर्थक दिवास्वप्न था, तो इन कवियों ने निधड़क यह भी महसूस किया कि यथास्थिति के धीरे धीरे परिवर्तित होने की कामना केवल स्वल्पमृत्यु की यातना है :–

सुनों
ढोल की लय धीमी होती जा रही है
धीरे धीरे एक क्रान्ति यात्रा / शवयात्रा में बदल रही है।
सडांध फैल रही है —
नक्शे पर देश के / और आंखों मे प्यार के
सीमांत धुंधले पड़ते जा रहे हैं
और हम चूहों से दिख रहे हैं।

(सर्वेश्वर)

3. भूमिका क्यों ?

आज़ादी के आशावर्धक वातावरण तथा बाद के मानसिक अवसाद ने विचारों में मंथन पैदा किया और कई आन्दोलन या विचार लहरियां उठीं और गिरीं। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में इनमें कविता की भूमिका के अतिवादी (एक्सट्रीम) अर्थों से सामना हुआ। अपने लिए कोई भी अर्थ तय करने से पहले हमें इस प्रश्न की समीचीनता निश्चित करनी चाहिए। आज हम न इस प्रश्न के अस्तित्व से इनकार कर सकते हैं और न ही कोई पूर्वनिर्धारित भूमिका लेकर उसे कविता पर चस्पां कर सकते हैं।

4. परिपार्श्व

प्रश्न और जिज्ञासा प्रकृतिजीवी भारतीय जीवन के संदर्भ में शाश्वत मूल्यों

की तरह उभर आए हैं। पर इस शाश्वतता का दुरुपयोग होते होते बचा जब हिन्दी के रहस्यवादी चिन्तक ने इसे कविता का ही मूल्य बनाकर रख दिया। यह परिणाम इससे हुआ कि प्रश्न शमन के बजाय प्रश्नाकुलता एक स्थाई तत्व बन गई। निरन्तर आकुल मनःस्थिति एक अव्याख्येय मोह का कारण बन सकती है। इससे पनपने वाली काव्य–अभिवृत्ति (एप्रोच) अशरीरी क्षिजित को लहरी के कानों में कहीं गई अन्दर की गहरी प्रेमकथा–रेखाओं से और धुंधला बना गई। अम्बर–तारों या झंझा–बिजली का मौन निमन्त्रण सुनने के लिए विस्मृति अवसाद तथा नीरवता से लैस होककर ही जाना पड़ा । ऐसे में रहस्यवादी कविता अपने समय की सीध ी या समान्तर अभिव्यक्ति नहीं और अतः 'एनाक्रॉनिस्ट' हो सकती है – इस बात ही चिन्ता उपर्युक्त चिन्तकों को नहीं थी। पर शुक्ल, द्विवेदी, नामवर सिंह, रामविलास शर्मा आदि ने यह सन्तोषजनक रूप से दिखा दिया कि इस प्रकार की प्रश्नाकुलता की मूल प्रेरणाओं की जड़ें भले ही उपनिषदों में हों, इसकी अभिव्यक्ति का उपयुक्त समय वही था। इस तरह आलोचना ने अपनी सार्थक भूमिका से कविता की अन्यथा अव्याख्येय मुद्रा की सार्थक भूमिका दिखला दी। प्रगतिवादी कविता समय की नब्ज़ पर हाथ रखते न रखते बालसुलभ खुशी से झूमने लगी कि उसने हृदय की धड़कन रक्तसंचार और स्नायुओं में उभरते छीजते तनाव भी समझ लिए। उसने माना कि कवि की तान से उथल पुथल मचने ही वाली है। स्वर्ग में आग लगी है जो महलों को राख कर देगी। पर कवि महलों में खुद रह रहे थे और पाठ्य पुस्तकीय समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की हामी भर रहे थे। समाज को विश्लेषक सामाजिक समझ से उन्होंने समझा ही नहीं था। आलोचना और रचना के बीच में पाए जाने वाली दूरी ने भी भूमिका काक प्रश्न गम्भीर बना दिया, क्यों कि रचना का वर्ण्य निम्नवर्गी था, पाठक आम मध्यवर्गी तथा आलोचक बुद्धिजीवी–मध्यवर्गी। यह आज का वर्गचेता कवि ही कह सकता है कि –

. . . शब्द और शस्त्र के व्यवहार का व्याकरण अलग अलग है/
शब्द अपने वर्गमित्रों में कारगर होते हैं और शस्त्र वर्ग शत्रुओं पर।
(धूमिल)

परिणाम यह हुआ कि नयी कविता या अकविता ने अपने ढंग से इस प्रकार के अपरिपक्व बोध की शदीद प्रतिक्रिया प्रकट की। कविता को अपने में पूरी इकाई माना जाने लगा। पर समाजचेतना के अभाव के प्रति ये कवि सचेत थे इसलिए कवि इस विच्छिन्नता की क्षतिपूर्ति खुद को किसी काल्पनिक विशाल विस्तार में बहाने के आनन्द से करने लगा । इससे समाज के साथ उसकी असम्बद्धता छिपी नहीं रही और अभिजात मुद्रा उसकी कविता पर छाई रही। उसके कथन में

निश्छलता तथा गति की व्याकुलता नहीं, जब वह कहता है कि –

> निर्विकार मरु तक को सींचा है / तो क्या ?
> नदी नाले ताल कुएं से पानी उलीचा है, / तो क्या ?
> उड़ा हूँ, दौड़ा हूँ, तैरा हूँ पारंगत हूँ, / इसी अहंकार के मारे/
> अंधकार में सागर के किनारे / ठिठक गया : नत हूँ /
> उस विशाल में मुझ से बहा नहीं गया . . . .
>
> (अज्ञेय)

बल्कि एक प्रकार का निर्विकल्प सन्तोष है जो घटघट में 'सांई' की मौजूदगी मानने से और अतः दुनिया में सब सब कुछ ठीक होने के विश्वास से हो सकता है।

अकविता ने प्रायः भीड़ग्रस्त मनुष्य की दयनीय दशा का गान किया। पीड़ा उत्सव का सा विषय बन गई। तथाकथित आत्मसाक्षात्कार वस्तुतः आत्मरति हो गया। कुल मिला कर कविता नवरोमानियत का राग हो गई। एक ओर कवि को ' अपने अस्तित्व के लिए अधिक सचेत तथा क्रियाशील घोषित किया गया दूसरी ओर उसे 'समाज या परिवार', प्रतिष्ठा या वैराग्य, अपमान या आदर को एक सा बेमानी समझने वाला '। 'इन्हें कोई अर्थ देने के बजाय निरर्थकता का एक विद्रूप, कम्पित कर देने वाला मान कर अपने अर्जित काव्य संसार द्वारा नया रूप प्रदान करने को कटिबद्ध' कहा गया। कथन और रचना में रद्द कर देने की मानसिकता इतनी प्रबल थी कि उसे स्वीकृति चेतना की किसी दूरदराज़ भूमिका से भी जोड़ा नहीं जा सका ।

छठे तथा सातवें दशक के दौरान कविता ने यथार्थ के निर्वसन रूप से चाहे सीमित लगाव की ही पहल की, इतना ज़रूर है कि समकालीन सरोकारों की काफी ऐकेडेमिक चर्चा हुई । अति वैयक्तिक रचना दृष्टि से अपने लिए समकालीनता के वस्तुनिरपेक्ष मॉडल तैयार किए, जिसकी वजह से इसमें अन्तर्विरोध पैदा हुए। मॉडल या तो वस्तुस्थिति से भिन्न थे या वस्तुस्थिति का सर्वथा विकृत रूप उभारते रहे। इस युग का विधेयात्मक पहलू यह है कि कविता की मूल प्रेरणाओं के संदर्भ में किसी प्रतिभिज्ञान (इन्ट्यूशन) वादी विचारधारा को प्रश्रय नहीं मिला, बल्कि कविता को एक सोद्देश्य कला बतलाकर रचना प्रक्रिया, अभिव्यक्ति और प्रयोग सम्भावनाओं की छानंबीन हुई। इस समय शब्द के रचाव की चेतना प्रमुख थी और इससे निकलने वाले परिणामों से इस कविता की भूमिका रेखांकित हो सकती है। प्रगतिवादी कविता ने भाषा के वर्णित तथा उपेक्षित पक्ष को संस्कार तथा प्रयोग से परिष्कृत किया था । तब ज़ोर भाषा के संस्थागत चरित्र के शोध पर था।

अकविता ने कहीं कहीं प्रच्छन्न तथा अप्रयुक्त अभिव्यंजना–उत्सों से भाषा को सम्पन्न किया, यद्यपि अप्रयुक्त को प्रकाश में लाने के आग्रह से भाषा के प्रकृत चरित्र की उपेक्षा हुई। नितान्त प्राइवेट अनुभव ने शब्द को कुछ हद तक सर्जनगरिमा दी, पर इससे जीवन–स्रोतों की पूरी समझ प्राप्त नहीं हो सकी, क्योंकि ऐसी भाषा की अभिव्यक्ति–भारवहता निर्विवाद नहीं।

5. राजनीति–चेतना का स्वीकार

प्रगतिवाद की उपर्युक्त दो प्रतिक्रियाओं से कविता की प्रेरणा तथा भूमिका के बीच जो दरार पड़ी, उसे विचार–कविता ने पाटने का बहुत हद तक प्रयत्न किया, यद्यपि दुर्भाग्यवश यह प्रयत्न भी असंमंजस तथा घबराहट से मुक्त नहीं रहा। इस शती के पांचवें छठे दशक में इन कवियों को भी असंमंजस हुआ उनके लिए हिन्दी का 'भूमिका' शब्द तभी तक अहानिकर था जब तक कि यह अंग्रेज़ी के 'रोल' शब्द का पर्यायवाची न हो। नई कविता या अकविता की त्रासदी यह थी कि मूल्यहीन राजनीति–कवलित परिवेश में या तो कविता की तथाकथित निरपेक्षता के दबे रहने का मुग़ालता पाला गया या कविता को राजनीति ग्रसित मनुष्य के लिए ऐसा शरण–स्थल समझा गया जहां क्षोभ तथा कुंठा की भड़ास निकाली जा सकती है। विचार कविता ने इसे राजनीति के मूल्यांकन और 'क्वालिफ़ाइड आत्मसातीकरण' से आभूषित किया । इस दृष्टि से यह कविता में एक आयाम की वृद्धि थी। कविता को किसी राजनीति की मुखर–प्रवक्ता बनने से बचाने पर ज़ोर दिया गया ताकि यह समय की निर्व्याज संवाहक बन जाए। पर राजनीति से मूल्यहीनता झटक देने के लिए तीव्र मानवता सापेक्ष राजनीति–चेतना अनिवार्य होती है, यह सत्य कुबूला नहीं गया । परिणम यह हुआ कि विचार इस चेतना को 'मेलोडाब्न' करने का एक क्षमायाची 'एप्रोच' बनके रह गया । विषम राजनीति के दंश से बचकर हटते हटते कविता क भूमिका का निर्धारण अन्ततः उसका अपना 'सर्वाइवल' हो गया। "वास्तव में कविता का विचार, कविता का कविता के पक्ष में विचार है। इसका असल मोर्चा कविता ही है जहां वह मरती और जीती है।" [1] यह कहने वाले इस बात के प्रति चेतन हैं कि इस प्रकार की धारणा निरपेक्ष कलावाद की पोषक हो सकती है। इसलिए 'विचार' को वास्तविकता से संघर्ष का अमोघ शस्त्र माना गया। पर साथ ही उसे सदा खुला कहकर उसे निरुद्देश्य प्रतिपक्ष में खड़ा किया गया। इससे अनजाने में कविता की स्वायत्तता के इस सिद्धान्त का ही समर्थन होता है कि मेमना–कविता और भेड़िया–राजनीति

---

1. विचार कविता की भूमिका : नरेन्द्र मोहन : पृष्ठ 14

शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की संधि करे कि तुम मेरी सीमाओं में पांव नहीं रखना। मैं भी अपना घेरा तोड़ कर तुम्हारी स्वतन्त्रता बाध्य नहीं करूंगी । अजीब हाल है। कविता मानो एक ऐसा बच्चा हो गई हो आग की उपयोगिता के बारे में पर्याप्त शिक्षित है, पर जलने के डर से उसका उपयोग भी नहीं कर सकता। दूर से अलबत्ता जितनी गर्मी आए, प्राप्त करता रहे। विचार कविता विचार को तभी तक लाभकारी बताती है जब तक कि वह विचारधारा न बन जाय। यह माना गया कि विचार, कविता में प्रासंगिक होता है क्योंकि वह उसकी संरचना में ही गुंथा रहता है। विचारधारा विचार को स्पष्ट और रेखांकित करती है, उसे प्रभावशाली बनाती है, यह सम्भावना सोची ही नहीं गई। विचारधारा भी संरचना में गुथी हो सकती है उसे ओढ़ा नहीं भी हुआ हो सकता है, उसे भी तलाशा जा सकता है, इस सम्भावना को बहस से खारिज ही किया गया। आश्चर्य नहीं कि कविता में 'घुसपैठ' करने वाले प्रत्ययों – – धार्मिक, राजनीतिक, दार्शनिक आदि को 'फालतू' कहा गया क्योंकि इनसे समकालीन मनुष्य का सरोकार समाप्त घोषित किया गया। इस प्रकार परिभाषित विचार निरपेक्ष तथा अबूझ हो जाता है। वह सामयिक विषम स्थिति में पड़े मनुष्य की बात तो करता है, पर इस विषमता के घटक तत्वों के किसी पद्धति–बद्ध (सिस्टमैटाइज़्ड) विश्लेषण से आंख चुराता है, भले ही ऐसा विश्लेषण उसके सामने उसका शत्रु चीन्हा दे। यह विश्लेषण–विवेक किन्ही सिद्धान्तों से प्रेरित हो सकता है, पर कविता में ढलकर उसका संगोपांग भाग बन सकता है, 'गुंथ' सकता है और कथ्य को पैना कर सकता है :

अखबार का हॉकर / सड़क पर चिल्ला रहा है / कि जनता ने/
सरकार का विश्वास / खो दिया है / और अब यह विश्वास/
दिन दूनी और रात चौगुनी मेहनत करने पर ही / जीता जा सकता है/
(परिश्रम के इलावा और कोई रास्ता नहीं) / मेरी राय है कि सरकार/
इस जनता को भंग कर दे और अपने लिए / दूसरी जनता चुन ले।
–(ब्रेख्त)

6. जागृत प्रतिक्रिया

कविता की भूमिका के संदर्भ में यह सोचा जाना चाहिए कि यदि समकालीन राजनीति से कविता के ग्रस्त होने का डर सच है तो फिर कविता ही सावधान होकर राजनीति से प्राप्त अनुभव और मुहावरे का इस्तेमाल समकालीन दुनिया को समझने के लिए कर सकती है। इससे कवि राजनीति का सही मूल्यांकन कर के अपने लिए नितान्त ज़रूरी रचनात्मक भाषा का सर्जन कर सकता

है। कवि ज़्यादा देर तक खुद को राजनीति निरपेक्ष खोल में रखे तो समकालीन सचाई का सीधा क्या परोक्ष साक्षात्कार भी नहीं कर सकता। उसकी कविता कलात्म अभिव्यक्ति हो गई हो – सार्थक रचनात्मक भाषा के अभाव में यह भी संदिग्ध है। ओछी या अमानवीय राजनीति का रोना रोना पर्याप्त नहीं, उसके प्रति तीव्र संवेदनात्मक प्रतिक्रिया ही कला के नए आयाम खोल सकती है। ,

पिछले पांच छः दशकों में जब भी कविता ने तथाकथित प्रामाणिक अनुभव की दुहाई देकर जीवन के अन्य अनुशासनों, जिनमें सौभाग्य या दुर्भाग्यवश राजनीति प्रबल और हावी हो गई है, को गर्हित दृष्टि से देखा, तो वह यकबारगी ज़िन्दगी के ही स्रोतों और प्रवाहों से कटकर रह गई। यह कहना केवल अति सरलीकरण है कि –

अच्छी कुंठा रहित इकाई / सांचे ढले समाज से/
अच्छा अपना ठाठ फकीरी / मंगनी के सुखसाज से।
– (अज्ञेय)

और अपर्याप्त इसलिए है कि इसमें सत्य कहने की अपेक्षा बात कहने का आग्रह है। सत्य, बहरहाल, यह है कि यदि कविता दुर्धर्ष दशा मे भी समकालीन जीवन स्रोतों की समझ तथा अभिव्यक्ति के उपादानों से अनुकूलित होती है, तो यह अनुकूलन कविता के डैने नहीं काटता, बल्कि, उसे रचना की सम्भावनाओं और प्रभावकारी अंदाज़ से सुसज्जित करता है । जीवन स्रोत उस जागरूकता में मौजूद होता है जो तमाम मरणधर्मा दर्शनों के बावजूद आदमी का अपनी सुरक्षा तथा बुद्धि में विश्वास जगाता है।

ज़िंदा रहने के पीछे / अगर सही तर्क नही है / तो रामनामी
बेचकर या रंडियों की दलाली करके / रोज़ी कमाने में /
कोई फर्क नहीं है
– (धूमिल)

ज़िंदा रहने का तर्क ज़िन्दगी को कुंठित करने वाली राजनीति को सावधानी से बरतने का अभ्यास देता है। समकालीन राजनीति का मुखौटा शालीनता का है और अन्दाज़ बडा सूक्ष्म । कलाओं को प्रच्छन्न रूप से हतोत्साहित करने के लिए यह प्रचार किया गया कि राजनीति कला से आत्मसमर्पण के समझौते पर हस्ताक्षर करा लेती है और समझौता स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की राह में बाधा है। मगर यदि स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का अर्थ वयस्क दृष्टि से इस राजनीतिक षड्यन्त्र की परख और इससे

संघर्ष तथा मुक्ति है तो राजनीति का यह पश्चिमी संस्करण निखर उठता है।

7. जड़ता की पहचान :

बात यह नहीं कि पिछले पांच छः दशकों में हिन्दी कविता में राजनीति–चेतना ही नहीं आ गई। इसका प्रतिफलन दो रूपों में देखने में आया :

1. जटिल राजनीति से पीड़ित मनुष्य की अवसादपूर्ण आत्महंता मनःस्थितियों में गहरी दिलचस्पी, जिसके निष्कर्ष रूप एक प्रकार के निर्वेद के अहसास की ध्वनि निकले।
2. पीड़ित होने की स्वतन्त्रता की निवार्य पीड़ा का बोध, पीड़ा में भी जीवनकर्म की निष्ठा की सम्भावना की खोज ।

राजनीति का पश्चिमी संस्करण जो हमारे जीवन का अनचाहा नियंता बना हुआ है, प्रथमरूप को ही प्रामाणिक निर्व्याज और सही बतलाता है और इसे 'विशद मानववाद', 'मानव विडम्बना' 'मानव नियति' 'अभिशप्त मानव स्थिति' आदि कहकर गौरवान्वित करता है। इसमें पाए जाने वाली आधारभूत कमी को नज़र–अन्दाज़ किया गया। काव्य–रचना यदि एक सर्जक प्रयत्न है तो एक सकारात्मक मूल्य भी है। इसकी निष्पति सम्प्रेषण तथा अनुभव की भागीधारिता का घेरा बढ़ाने से होती है। इससे एक अकेला अनुभव जाने अनजाने एक सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रक्रिया को हरकत में लाने लगता है। मानव इकाई का उपक्रम सांस्कृतिक बाहुल्य में ढल जाता है। यह प्रक्रिया इतनी प्रभावशाली है कि इसे अवसन्न करने से मूल मानव प्रयत्न ही अवसन्न हो सकता है। कविता भी ऐसे में घुट कर मर सकती है। पश्चिम में तो कविता में गतिरोध के नारे समय समय पर उठते रहे हैं । गतिरोध ही कविता से आत्मसमर्पण के समझौते पर हस्ताक्षर करा लेता है। कविता की संज्ञा–शून्यता विषम राजनीति को और भी छूट की गारंटी देती है और इस प्रकार यह विषम वृत्त और विषम हो जाता है। ताज्जुब नही कि ऐसे में कवि इस प्रकार की साधु मुद्रा धारण करे :–

चुना हुआ रास्ता दायें बायें / में पिचककर /
संकरा होता जाता है दिनों दिन

— (नरेन्द्र मोहन)

जिजीविषा जीवन में निष्ठा की शर्त है और इसकी अभिव्यक्ति के ख़तरे उठाने ही होंगे। विनाश के विरुद्ध जीवन के उत्सों को जगाने से ही मूल्यों की खोज सम्भव हो सकती है। इसके लिए चुना हुआ रास्ता संकरा नहीं हो सकता। इस पर चल कर कवि अपने ढंग से जिए हुए जीवन का साक्ष्य प्रस्तुत करता है, जो सार्थक और गत्यात्मक होता है। इससे परिवेश में ज़िन्दगी की मूलभूत महत्ता प्रतिष्ठापित हो सकती है । मुक्तिबोध के मुहावरे में " खून में रवि की किरणें" बह सकती हैं। ज़िन्दगी को पुनर्जीवित करने के लिए उसकी जड़ता को तोड़ने से शुरू करना होगा :

" अब तक क्या किया
जीवन क्या जिया ?
बन गये पत्थर
बहुत बहुत ज़्याद लिया
दिया बहु4त कम
मर गया देश, अरे जीवित रह गए तुम ।"

ज़िन्दगी की अर्थवत्ता नही रहती जब कविता आत्मरति और अकेलेपन को महिमा–मंडित करती है तथा इस तरह खुद को अपने ही विरुद्ध खड़ा करती है :

यों मैं / अपने रहस्य के साथ / रहस्यमय रह गया /
सन्नाटे से घिरा / अकेला / अप्रस्तुत/ अपनी ही
जिज्ञासा के सम्मुख निरस्त्र / निष्कवच /वध्य ।
– (अज्ञेय)

अकेलापन सृजन प्रक्रिया का एक चरण हो सकता है पर यह जीवन का और कविता का समूचा दर्शन बन जाय तो कविता मारक आत्मश्लाघा से अभिशप्त हो जाती है। कविता सर्जक 'व्यक्ति और संग्राहक भावक के बीच निधड़क यात्रा करे तो कवि कर्म ही क्या सम्पूर्ण साहित्य–संस्था न्यायसंगत परिप्रेक्ष्य में सार्थक होगी। 'द्वीपवाद' कविता की अभिवृत्ति को कुंठित कर सकता है, फिर 'सामान्य' 'संघर्ष–शील मनुष्य' का वर्णन केवल फैशनेबल पक्षधरता होता है। पक्षधरता एक सकारात्मक मूल्य है जो कविकर्म को वस्तुगत स्पष्टता तथा विधेयकता प्रदान करता है। आठवें–नवें दशक की कुछ लम्बी तथा चरित कविताएं इस प्रवृत्ति की द्योतक हैं।

अन्त में हम रघुवीर सहाय की कविता में व्यक्त ' संघर्ष की तैयारी ' से समकालीन कविता की भूमिका को सम्पन्न देखना चाहेंगे :

शक्ति दो बल दो, हे पिता
जब दुख के भार से मन थकने आए
पैरों में कुली की सी लपकती चाल छटपटाए
इतना सौजन्य दो कि दूसरों के बक्स बिस्तर घर तक पहुंचा आएं
कोट की पीठ मैली न हो, ऐसी दो व्यथा
शक्ति दो ।

समय

जाने किसका है यह आकर्षण
सलेटी सुबह का
यह ललछौने सूरज का
कि शिराओं की दीवारों को खुरचता हुआ
और खून को मथता हुआ
निकलता है समय
हमें बता जाता है
कि आखिरी भभके की तपिश में
कैद है सांस
इसे छुड़ाएं तो बस
धुंधुआई आंखों से चू रहा
पानी
पानी
पानी !

कविता के ज़मीन से जुड़ते तेवर

बेहतर यही होगा
कि ऐसे नहीं मरूं जैसे कि देवता
मरते हुए मुस्का कर जीत पर अकड़ता है
कातर हो वह अन्तिम चीख जब
मिट्टी से नीचे लिया जाऊं मैं
असल मौत पाऊं इनसान की
न मेरी असलियत का विचार हो ।
— शांदोर वरेश
(एक हंगारी कवि, अनुः रघुवीर सहाय)

अन्तरात्मा बादलों में पहियों पर दौड़ लगा रही है,
मेरी इच्छा
अन्धे हो जाने की है
सूर्य और सेब बनजाने की है
नहीं, उनकी तरह बनने की नहीं
स्त्री का उरोज, सूर्य, सेब, कागज़ का एक टुकडा
कलम स्याही और स्वप्न बनने की है
भयानक संगीत बनने की । बस ।
— गोजो योशिमासु
(एक जापानी कवि, अनुः श्री कान्त वर्मा)

पृथ्वी की दो विरोधी दिशाओं के कवियों की कविताओं के ये दो अंश आश्चर्यजनक ढंग से आज के मनुष्य की एक ही इच्छा और एक ही गति का संकेत करते हैं। बनावटी शान और महिमा झाड़ कर आज आदमी सामान्य ज़िन्दगी की

सामान्य सम्भावनाएं जीना चाहता है। झूठे आश्वासनों से परे हठकर कुछ देर सपने देखने का अवसर पाए और बस। पर इस दौरान यह उसे सचेत ढहा न ले जाएं। ज़मीन का सम्बन्ध, ज़मीन की वास्तविकताओं का संबन्ध उसका केवल सत्य है। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि भूचेतना या ठेठ यथार्थचेतना का आरम्भ हिन्दी कविता में उन्हीं दिनों हुआ था जब कविता आम तौर पर स्वच्छन्द और यथार्थ निरपेक्ष थी। पन्त और निराला ने ही नहीं, प्रसाद ने भी लघुता को साहित्यिक दृष्टिपात का सही पात्र स्वीकार किया था। पर अधिकतर छायावादी रचना संसार असन्तुलित था। इसकी प्रतिक्रिया दूसरे प्रकार की अति में हुई । प्रगतिवादी विधान ने यथार्थ की गुणवत्ता स्थापित करने के आग्रह में यह नहीं जाना कि इस तरह वह यथार्थ को गुणीभूत या गौण कर रहा है। उसने वास्तविकता के मुकाबिले में यथार्थ के खुश फहमी रंगे चेहरे गढ़े । खुद राजनीति का आज्ञाकारी चश्मा पहनकर छायावाद को ही नहीं बल्कि रीति भक्ति वीरगाथा यहां तक कि पौराणिक और वैदिक साहित्य की भी अपनी दृष्टि से राजनीतिक व्याख्याएं कीं, क्योंकि समाजशास्त्री दृष्टि से तत्कालीन समाजों की राजनीतिक सामाजिक व्याख्याएं होने लगी थीं। राजनीतिक अस्थिरता और राजनीतियों की चिरसत्ता–आकांक्षा के द्वंद में फंसकर प्रगतिवादी पक्षी छटपटाने लगा और आगे चलकर सक्रिय राजनीति की अपेक्षा राजनीतिक दृष्टि लेकर उड़ता रहा । प्रगतिशीलता को मानवमात्र की बुद्धिसम्मत परिणति माना गया। किसी हद तक पचासोत्तर चिन्तन तथा लेखन में अभिधा के खुरद्वरेपन से मुक्ति के आसार नज़र आने लगे। वाम तथा असहमति का मार्ग साहित्यिक मूल्यों का आधार बना । इस प्रकार सीधी राजनीति का स्थान बहुत ही सूक्ष्म स्तर पर चिन्तन और रचना में निहित राजनीति की पक्षधरता ने ले लिया। सक्रियता के स्थान पर लेखक से केवल सहानुभूति जगाने की प्रत्याशा की जाती रही । पर वस्तुतः प्रगतिवाद या प्रगतिशीलता समाज की साम्यवादी परिणति की दिशा में साहित्यिक प्रयास का ही छद्म नाम थी। रघुवीर सहाय ने स्पष्ट किया कि वे दलगत राजनीति के विरुद्ध नहीं, यद्यिप वे रचनाकार की स्वतन्त्रता भी चाहते हैं – " संगठित राजनीति अत्यन्त आवश्यक है, लेकिन उसके खिलाफ रचना भी आवश्यक है।" मार्क्सवाद के पतन पर केदारनाथ सिंह की प्रतिक्रिया थी कि ' सारे घटनाचक्र' के निहिंतार्थ की समझने में समय लगेगा ..... मैं उन लोगों की खुशफ़हमी को बड़े कौतूहल से देखता हूँ जो यह मानते हैं कि जो कुछ हो रहा है उससे मार्क्सवाद समाप्त हो जाएगा ।'[1] जैसा कि हम जानते हैं, फिलहाल एक व्यावहारिक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में संसार के अधिकांश देशों में मार्क्सवाद

1. केदानाथ सिंह की मिथिलेश श्रीवास्तव से बातचीत – इन्द्रप्रस्थ भारती, पृ0 204

समाप्त ही माना जा सकता है। दूसरी अतिवादी विचारधाराओं की तरह इसकी उपस्थिति केवल कुछ आंचलों में है।

हिन्दी कविता के सन्दर्भ में ज़मीन से जुड़ते तेवरों की बात जब भी होती है तो प्रगतिवादी असहमति की कविता का उल्लेख होता है क्योंकि प्रगतिवादी विचारधारा को यह श्रेय दिया जाएगा कि उसने परिवेश में मौजूद लघुता की ओर कवि का ध्यान आकृष्ट कराके व्यवस्था को ढहाने की घोषणा की थी। नयी कविता के अतिक्रामक समूहवाद में लड़खड़ाते व्यक्ति की विवशताओं तथा असफलताओं का चित्रण किया और अतिवैयक्तिक कुण्ठा तथा आक्रोश को सटीक मुहावरे में पेश किया । विरोध का स्वर प्रगतिवाद का भी था, विरोध का स्वर नयी कविता का भी । असहमति की मुद्रा दोनों कविताओं में उपस्थित थी । यहां तक कि 1970–80 के परवर्ती कविता पंथों (उन्हें आन्दोलन नहीं कहना चाहिए क्योंकि उन्होंने ज़्यादा से ज़्यादा यह किया कि कुछ रचना–केन्द्र क्रियाशील बनाए) में भी विरोध, खण्डन और विद्रोह का स्वर सुनाई देता रहा । तथाकथित विचार कविता अकविता सहजकविता आदि के कवितापंथ व्यवस्था के विरोधी भी थे और स्थापित होने की छटपटाहट से भी बेचैन। यानी कि बीसवीं शती की यह कविता यदि किसी एक निरन्तरता पर गर्व कर सकती है तो वह है खण्डन और अस्वीकृति के बाद स्थापना की प्रयत्नशीलता। मार्क्सवाद की द्वन्द्वात्मकता इस प्रकार से हिन्दी कविता के आधुनिक युग के इतिहास को परिभाषित कर सकती है। तथ्य यह भी है कि मार्क्सवादी समाजशास्त्र ने घोषित तौर पर केवल प्रगतिवादी कविता और चिन्तन को जन्म दिया लेकिन अघेषित तौर पर इससे जो एक व्यापक वाम धरातल इस एशियाई भूखण्ड को मिला उस पर कई कवितापंथ खडे रह सके। इनमें से अधिकांश पंथों ने मार्क्स को अपना स्रोत नहीं कहा । देश में वामराजनीति की कई किस्में प्रचलित थीं, पर अस्वीकार, विरोध तथा उपेक्षित की पक्षधरता की पहली प्रेरणा इन्होंने उसी दार्शनिक से ली थी। यही कारण है कि यदि हमें समकालीन कविता में ज़मीन से जुडते सम्बन्धों की छानबीन करनी है, धुर हक़ीकतों के प्रति कार्य की अभिवृत्ति (एप्रोच) समझनी है तो देखना यह होगा कि घोषित पक्षधरता वाली कविता की स्थिति क्या है। यह जड़ीभूत तो नहीं हुई है ? या गतिमान है और बदलते परिवेश को समझ रही है ?

प्रसिद्ध स्पेनी कविता और राजनयिक ऑक्टेवियो पॉज़ ने एक साक्षात्कार में स्व0 श्रीकान्त शर्मा को बताया था कि राज–सत्ताएं चाहे जो भी हों व्यक्ति के जीवन में घुसकर मूल्यों का संहार करती गई हैं । राजनीति सर्वभक्षी, सर्वग्रासी

हो गई है। राजनीति से छुटकारा भी नहीं इसलिए ज़रूरत इस बात की है कि लेखक मूल्य स्थापना के लिए राजनीति में आए । ..... भारत के बारे में उन्होंने कहा " यहां आकर मैं ने पाया कि अधिकतर राजनीतिज्ञ अबौद्धिक हैं और अधिकार बुद्धिजीवी राजनेताओं के दास है हिन्दी के कई लेखक सक्रिय राजनीति में हैं पर हमारा अनुभव यह है कि उनमें से अधिकांश वहां जाकर फिर केवल उस खास प्रकार की दलगत सोच के बंदी होकर ही रह गए हैं।"[2] सक्रिय राजनीति एक तरह से समाज के वैज्ञानिक मैनेजमेन्ट के तरीके निर्धारित करती है, पर आगे जाकर उन्हीं तरीकों को तोड़ने के लिए वह नितान्त अवैज्ञानिक हो जाती है और यहीं मूल्य रक्षा संकट में पड़ती है। भारत में समस्याबहुलता के कारण स्वार्थ पूर्ति के लिए जो आपाधापी मची हुई है उसमें लेखक की आवाज़ इतनी प्रभावी नहीं कि मूल्यों की पक्षधरता के लिए कोई प्रभावचक्र चला सके। प्रगतिशील कवियों में रघुवीर सहाय, दुष्यंत कुमार और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना हताशा की यह स्थिति पहचान सके। " जैसे राजनीति में, वैसे ही कविता में भी जनके साथ कानूनी रिश्ते तो बने हुए हैं, लेकिन एक इनसानी रिश्ता रह नहीं गया है। इससे कवि भी राजनीति की तरह आत्मारहित बनता जा रहा है ।"[3] इस प्रसंग में श्रीकान्त वर्मा द्वारा किए गए जर्मन कवि हंस मारनुस एन्त्सेन्सवर्मर की कविता " जहां चीज़ें सुधर रही है " की ये पंक्तियां प्रासंगिक ही होंगी :–

यहां आंशिक विकलांग पूर्व विकलांगों के विरुद्ध
युद्ध छेड़ते हैं
यहां का कानून है :
एक दूसरे के साथ निर्मम होनें की सीमा तक भले बनो . .[4]

और राजकुमार कुम्भज इस अवसाद की स्थिति को यों पेश करते हैं :–

हम/एक खास खबर हो जाएंगे
इस जन्म से ठीक उस जन्म के आस पास/होने तक
पता नहीं कि तुम्हें खबर होगी कि नहीं ।
मगर हम तो हो ही जाएंगे पुनर्जन्म के पार तक । एक खास खबर
ताकि सनद रहे / समय की उड़ान में स्मृति की ओर ।[5]

---

2. बीसवीं शताब्दी के अन्धेरे में – श्रीकान्त वर्मा पृ0 32
3. लोग भूल गए हैं – रघुवीर सहाय; पृ0 8
4. बीसवीं शताब्दी के अन्धेरे में – श्रीकान्त वर्मा; पृ0 109
5. समय की उड़ान में स्मृतियों की ओर इन्द्रप्रस्थ भारती अप्रेल मई जून, 1991

अब केवल एक ठण्डेपन के साथ स्थिति की समझ उभर रही है और इस समझ ने आवेश तथा क्षुब्धता का स्थान लिया है।

भारतीय राजनीति इतनी छल और छद्मपूर्ण इसलिए भी है कि इतिहास ने इस देश को अचानक पश्चिमी विस्फोटक आधुनिकता की शक्तियों के सामने खड़ा कर दिया । ये शक्तियां इसे सोख रही हैं, यदि यह अभी भी सांस्कृतिक सत्यों का पुनर्मूल्यांकन करने का साहस नहीं बटोरता । और यदि यह देश केवल अपनी परम्परा के निरपेक्ष एकान्त में ही रहने की ज़िद करता है तो भी घुट के रह जाएगा। पर एक सामान्य सत्य को स्वीकारना ही होगा । पश्चिमी दर्शन मनुष्य तथा उसके परिवेश के पारस्परिक असन्तुलन की चेतना पर निर्मित होता है, जबकि भारतीय दृष्टि किसी भी कीमत पर सामंजस्य स्थापित करने की है। पश्चिम ने अपने इतिहास और परम्परा की पुनर्व्याख्या करके इस में अपने लिए निरन्तरता के तथ्य ढूंढे । भारत ने अपने लिए ऐसा नहीं किया। हिन्दी में इस प्रकार के प्रयास बिल्कुल नही हुए । पर्याप्त तथा सन्तोषजनक ढंग से आज तक इस बात की जांच नहीं हुई कि अकेलेपन, विसंगति, अजनबियत और अवसाद जैसे आधुनिक पश्चिमी प्रत्यय भारतीय अनुभव सम्पदा के परिवेश में कहां ठहरते हैं। वास्तव में हम लोग बहुमुखी विरोधी स्थितियां जी रहे हैं और जानते नही कि जी रहे हैं। इतिहास और परम्परा के स्थान पर हम कुछ पुरागाथाओं या मिथकों को जी भी रहे है और बौद्धिक स्तर पर इनका मिथ्यात्व भी स्वीकार कर रहे हैं। परिवेश के साथ हम यह जानकर भी सह अस्तित्व करक रहे हैं कि यह छल तथा मल से पूर्ण है। हमारे बुद्धिवादी एक साथ व्यवस्था को गाली भी देते हैं और उसके साथ समझौता भी करते हैं। कोई आश्चर्य नही कि आम आदमी 'बावजूद समकालीन घोर अव्यवस्था के, व्यवस्था की मिथ से चिपटा, उसके सहारे एक अप्रामाणिक सी ज़िन्दगी जीना चाहता है : उसके इस मोह को पोसने वाले और इस तरह उसे अपनी सच्ची हालत का सामना करने से दूर रखने वाले मूलतः व्यवस्था केन्द्रित कवि हैं।[6] श्रीकान्त वर्मा इसे कवियों का 'ऐयाशी झूंठ' कहते हैं और खीझकर उनसे कहते हैं :

तुम जाओ अपने बहिश्त में / मैं जाता हूँ अपने जहन्नुम में।"

यह जहन्नुम दरअसल हमारी समकालीन दुनिया है जिसे कवि बिना अफ़सोस के जीना चाहता है। " झेड का आत्मसाक्षात्कार" में लीलाधर जगूडी इस

---

6. फिलहाल – अशोक वाजपेयी– 1982 संस्करण से उदधृत – पृ0 127

दुनिया का एक और आयाम उभारते हैं :

> लोग नहीं जानते झुकने से मुझे नफरत है, फिर भी झुकता हूँ।,
> झुकना पड़ता है मुझे / जबकि उठना चाहता हूँ मैं और और
> और / यहां तक कि अपनी उन्नति के लिए मुझे हर साल / नंगा
> होना पड़ता है।'

प्रगतिवादी दृष्टि से यह पूंजीवादी लोकतन्त्र है, जिसकी कुव्यवस्था ने आदमी को बेबस कर दिया है पर " समाजवादी लोकतन्त्र" का जो हश्र हुआ उसका क्या ? एक परिणाम तो वह तंत्र रूस में ढह जाने के बाद दिख ही रहा है जहां आदमी बहुत ही हतश्री होकर रह गया था। एक दृष्टा कवि की तरह रघुवीर सहाय ने दशकों पूर्व जो लोकतन्त्र के बारे में कहा था वह कितना सच साबित हो रहा है : " लोकतन्त्र ने हमें इनसान की शानदार ज़िन्दगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है "[7] तरसेम गुजराल एक अबूझी पर बेहद प्रभावशाली साज़िश की ओर संकेत करते हैं जो हमें तकरीबन नियतिवादी बना छोड़ती है :

> असफल हो गए / सुघड सयानी मां के तमाम टांके ।
> बह गई बाप की / बही खातों की सारी जांच
> गर्म रेत की खुफिया निगाहें
> जाने कब से लगी थीं घर पर ....

ये खुफिया निगाहें किसी गुप्तचर एजेंसी की नहीं भी हों पर किसी नियति की लगती हैं, जिसे हम भोगने को अभिशप्त हैं और कोई विकल्प नज़र नहीं आता :

> पहाड़ों से छुटकारा नहीं है
> न जाओ उनके पास
> न चढ़ो उनपर
> तब भी ये
> तुमपर टूट पड़ते हैं
> गर सोच लो उनको ।
> और सोच भी नहीं

---

7. फिलहाल – अशोक वाजपेयी– 1982 संस्करण से उद्धत – पृ0 124

यह भला मेरें हाथ में
कब है ।

— नन्द किशेर आचार्य

स्पष्ट है कि इस कविता में अगले कुछ वर्षों में एक आलोड़न होने लगा। वास्तविकता को निरपेक्ष दृष्टि से देखा जाने लगा। यथार्थ के बारे में गढ़े गढ़ाए दर्शनों पर आस्था कम होती जा रही थी और यह सब ज़्यादा उसी खेमे की कविता में जो प्रतिबद्ध थी। वास्तव में वर्तमान नरक का विकल्प देते हुए कवियों की स्पष्टवादिता और प्रखरता कम होने लगी थी। वे अतिवाम के निर्धारित पंथ के कम श्रद्धालु रह गए यद्यपि उस समय विश्व राजनीति ने स्पष्ट पक्षधरता की शर्त लगाई थी। मुक्तिबोध ने विकल्प तो दिया था पर निर्द्वन्द्व होकर नहीं और यहीं उसकी गहरी मानवीय समझ है।" समकालीन दुःस्वप्न को उन्होंने पूरे साहस के साथ देखा और उसकी भयानकता को न तो कभी कम किया और न ही सरली कृत ।"[8]

एकाएक फिर स्वप्न भंग
बिखर गए चित्र कि मैं फिर अकेला
मस्तिष्क हृदय में छेद पड़ गए हैं
पर, उन दुखते हुए रन्ध्रों में गहरा
प्रदीप्त ज्योतिका रस बस गया है
मैं उन सपनों का खो जाता हूँ आशय । अर्थों की वेदना
फिरती है मन में । अजीब झमेला ।

मुक्तिबोध के बाद राजनीति के छली चेहरे को उधाड़ने तथा रचनाकार की दृष्टि की निर्बंधता को बनाए रखने के सन्दर्भ में रघुवीर सहाय सर्वेश्वर तथा केदारनाथ सिंह महत्वपूर्ण हैं। शायद यह अनुमान करना ग़लत न होगा कि समाजवाद की प्रतिबद्धता के बावजूद इन कवियों ने जो रचनाकार की स्वच्छन्दता का पक्ष लिया, इसमें नयी कविता के प्रभाव और खास तौर पर 'अज्ञेय' का सम्पर्क तथा उनके वैयक्तिक संस्कार काम कर रहे थे। न इन्होंने समाज की 'अति' को स्वीकार किया न व्यक्ति की आत्मरति को। दोनों के आपसी तनाव को रचना के लिए महत्वपूर्ण माना । रघुवीर सहाय ने सत्ता के साथ लेखक के सतत संघर्ष की बात को क्योकि सत्ता चाहे समाजवादी भी हो, लेखक को लीक पीटने को विवश करती है। यही इसी सोच का परिणाम है कि समकालीन कविता में फिर

---

8. फिलहाल — अशोक वाजपेयी— 1982 संस्करण से उद्धत — पृ0 109

इस संघर्ष की धार एकदम पैनी होने लगी और कविता में अवसाद, असहायता खिन्नता ही स्थिति से सत्य के रूप में उभरने लगी हालांकि भाषा का व्यंग्य का तेवर बरकरार रहा –

समय नहीं बहस का
वरना तुम्हारा शक
असमय गर्भधारण किए
देश का पीला चेहरा देख
ढूंढने लगता वैज्ञानिक आधार
निकल आती अखबारों में सुर्खियां –
अनाज सस्ता मिलता है
सरकारी दुकानों पर ।

– शुभ दर्शन (बूढा इतिहास)

राजनीतिक मुद्रा की कविता ने सातवें और आठवें दशक में जो 'खिलाफ़' 'विरोध' और 'जुझारूपन' के तेवर धारण किए थे वे बाद में नर्म पड़ गए और लगा है कि उबाल उतरने के बाद जेनुइन कविता हो रही है। मसलन यहां कवि सूरज से लाल आँखें न दिखाने को कहते हुए कविता का अन्त करुणा में ही करता है क्योंकि शायद यही अब कारगर रह गया है :

उसे तो काला पड़ जाना चाहिए
देखकर
हमारी देहों पर
समय की मार के
नीले नीले निशान –
काले सूरज के खिलाफ (रमेश नील कमल)

और एक प्रतिष्ठित कवि की पैनी दृष्टि में ज़मीनी वास्तविकता का यह चित्र कैसी भयावह स्थिति को उकेरता है :–

यह एक ठंडे तेज़ाब का समुद्र है
जहां कुछ डुबे बिना ही गल जाएंगे
कुछ थोड़े दिन हाथ पैर मारेंगे
और वे – बैठें है जो
बहते हिमखण्ड पर
वे भी कितने दिन बच पाएंगे

बेशुमार आंखों की नींद –
थोड़े से लोगों की सुविधा है
इस सबके बाद भी 'रामजी' का होना
काफी बेहूदा है ...

– कैलाश वाजपेयी (विवर यात्रा)

यह कविता के लिए शुभ है कि अब यह काव्यांदोलनों से प्रेरित होके नहीं हो रही है और जब केदारनाथ सिंह जैसे प्रतिबद्ध कवि भी मानते हैं कि ऐसा है तो निश्चय ही समाजवादी राजनीति के साहित्यिक सांचे ढीले पड़ गए होंगे।[9] बंधे बंधाए पंथ यात्री को उबा देते हैं तो ताज़गी के लिए नई पगडंडियां खोजने का सिलसिला चल पड़ता है। इसी प्रकार परम्परा के और अतीत के वर्चस्व का बखान किए बगैर जब कवि अपने सामान्य परिवेश में जीते मरते मनुष्य को, उठती गिरती सांसों में अभिव्यक्त होते रिश्तों को निर्व्याज दृष्टि से आंकते हैं तो कविता अपूर्व ताज़गी से महक उठती है। यह आकस्मिक नहीं कि समकालीन कवि माँ, बाप, परिवार, लड़की, दादी माँ, चिड़िया, नदी आदि को आर्द्र दृष्टि से देखता है और यूं कविता फिर से जीवन्त हो उठती है ।

कितना लाचार होता है पिता
हमारे प्रेम और हमारी मैत्री का कितना भूखा
हमारी हर सलीब को अपने कन्धे पर ढोता हुआ।
हमारे दोस्तों का हर उपहास मन ही मन सहता हुआ

– सदाशिव श्रोत्रिय (पिता)

पारिवारिक परिवेश के प्रति पूर्वग्रहहीन दृष्टि कविता में आत्मीयता पैदा करती है। गांव, शहर, मिट्टी, आकाश से प्रतीक यों लिए जा रहे हैं कि उन्हें समझने के लिए किसी शास्त्रीय समझ की ज़रूरत नहीं । कविता का तेवर तभी से बदलने लगा था जब भारी भरकम शब्द और जटिल वाक्यरचना के बदले सपाट अन्दाज़ में गहरी बात कहने का सलीक़ा उभरने लगा । यह विकास अज्ञेय में एक तरह से हुआ और और मुक्तिबोध में दूसरी तरह से । लेकिन समकालीन कविता में सहज ज़िन्दगी के भीतर उतरकर उसकी पेचीदगियां समझने की प्रवृति बढ़ती गई है और इसमें इसे एक अनन्य ताज़गी से भर दिया है :–

एक दिन झक से । मूंगा मोती । हल्दी प्याज़

---

9. केदारनाथ सिंह की बीतचीत : पृ0 295, उपर्युक्त पत्रिका

कबीर निराला । स्वर्ग नरक । झींगुर कुहासा
सभी के आशय स्पष्ट हो जाएंगे
जैसे धूप । खपरैलों पर जाते जाते यकायक
स्पष्ट हो जाती है।

— केदारनाथ सिंह (अकाल में सारस)

आर्द्रता का यह स्वर समकालीन युवा कविता में भी उभरता है और इससे उबाल तथा क्षणिक आवेश का आकर्षण टूटता नज़र आ रहा है। यह बात नहीं कि असहमति और विरोध नहीं, बल्कि शातिर व्यवस्था के स्थाई और चिरजीवी हथकंड़ों से पर्दा हटाने की इच्छा व्यंग्य और विद्रूप के माध्यम से आज जैसे प्रकट हो रही है वैसे आवेश के लहजे में नही हो रही थी। अन्तर केवल इतना है कि कवि वास्तविकता के बेबस चेहरे से अपनी नज़रें हटा नहीं पा रहा। व्यवस्था का प्रबन्ध भी तो बड़ा सूक्ष्म हो रहा है और इसे केवल गाली देने से अनचाहा नहीं किया जा सकता । इसने हमारे मर्म में आराम से बैठ कर भीतर ही भीतर कुरेदने की व्यवस्था कर ली है। समकालीन कविता ग्रस्त हो रहे जीवन को समझते हुए खामोश लेकिन मर्म भेदी अस्वीकृति प्रकट करती है और यही इसके प्रति आस्था जगाती है। अन्त में यह कविता ·

प्रेम पत्र –

प्रेत आएगा ।

किताब से निकाल ले जाएगा प्रेम–पत्र गिद्ध उसे पहाड़ पर नोच नाच खाएगा / चोर आएगा तो प्रेमपत्र चुराएगा/ जुआरी प्रेमपत्र पर ही दांव लगाएगा / ऋषि आएंगे तो दान में मांगेगें प्रेमपत्र /सांप आयेगा तो डंसेगा प्रेमपत्र। झींगुर आएंगे तो काटेंगे प्रेमपत्र/कीड़े प्रेमपत्र ही काटेंगे ।

प्रलय के दिनों में । सप्तर्षि, मछली और मनु / सब वेद बचाएंगे / कोई नहीं बचाएगा प्रेमपत्र ।

कोई रोम बचाएगा । कोई मदीना। कोई चांदी कोई सोना। मैं निपट अकेला । कैसे बचाऊंगा तुम्हारा प्रेमपत्र

— बद्रीनारायण

गल्प (फ़िक्शन) में अनुभव और संवेदना की स्थिति

कविता एक प्रमेय (हाइपोथेसिस) पेश करती है यानी वह यथार्थ मानी जाने वाली एक काल्पनिक स्थिति की रचना करती है, जिसे प्रभावित पाठक अपने ज़ेहन में उतार कर सच मानता है। कहानी मिथक का सृजन करती है, यानी एक सम्भावित तथ्य जो उसी उद्देश्य और घटनाक्रम में नहीं हुआ जैसे पेश किया गया। मिथक हमारे सामान्य तार्किक जीवन में भी मौजूद रहता है जो व्यक्ति, स्वभाव, परिस्थिति आदि के अनुरूप बदलता रह सकता है। पौराणिक मिथक की रचना करके हम उसके सम्भव असम्भव पहलुओं को स्थायित्व प्रदान करते हैं। मिथक के केन्द्र में सदा एक कथातन्तु रहता है जो फैलता है तो घटना, विवरण और चरित्रों की सृष्टि होती है। स्वयं मिथक अघटित होने के कारण अविश्वसनीय नहीं होता, और विश्वसनीयता उसे तथ्य के स्तर से उठाकर सत्य बना देती है। यही उसका साहित्यिक मूल्य है। विश्वसनीयता सम्भावना का पर्याय बन जाती है और पाठक की ज़िन्दगी में सहजता से उतर जाती है। इस तरह कहानी का सम्प्रेषण कविता की अपेक्षाद्रुत तर होता है।

कथाकार जब मिथक का सृजन करता है तो उसकी सीमाएं क्या होती हैं, वह मिथक को फैलाकर किन अन्य तत्वों का सहारा लेता है और कथास्थिति की रचना करता है, ये प्रश्न नए नहीं और इनके कई समाधान दिए गए हैं। पर

इस बात की ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान गया है कि कथाकार अपने कथ्य से कितना भी विलगत्व बनाए रखे, विषयीगत (ऑब्जेक्टिव) मुद्रा अपना ले, उसका मिथक उसकी ज़िन्दगी और उसके व्यक्तित्व के समानान्तर बनता है और पाठक के लिए, कुछ समय के लिए लेखक की ज़िन्दगी का ही स्थान लेता है, एक स्थानापन्न ज़िन्दगी बनके उभरता है।

हम कथा में ज़िन्दगी का यथार्थ चाहते हैं – या तो यथार्थ का यथावत रूप या यथार्थ के आसपास की प्रतीयमान स्थितियां ढूँढते हैं। कई बार पाठक कथाकार की प्रतिभा को यथातथ्य–चित्रण की क्षमता की कसौटी पर तोलते हैं। कविता में भी हम यथार्थ ज़िन्दगी ही देखना चाहते हैं पर कथा और कविता से प्रत्याशा दो अलग तरह की होती हैं। कविता में यथार्थ का शब्दरंजित और गढ़ा रूप होता है। गढ़ने उसे महिमा मंडित कर देती है, जबकि कहानी में यथार्थ जितना अनगढ़ हो, उतना सहज और स्वीकार्य होता है। उतना ही उसका साहित्यिक महत्व भी बढ़ता है। अनगढ़ता में उसका सौन्दर्य है। पर अनगढ़ता की गढ़न कुशल शिल्प से ही सम्भव हो सकती है, मात्र अभ्यास से नहीं, यह अलग बहस है। 'रेणु' की अनगढ़ता उनकी कथा को उत्कृष्ठ बना देती है। काफ़ी परिश्रम और अभ्यास के बावजूद 'रेणुई अनगढ़ता' को हिन्दी कथा में दोहराया नहीं जा सका ।

कथा की कला कथात्कमा (नरेशन) में भी है और कथात्मकता एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है। इसमें कथाकार के जीवनानुभव और संवेदना दोनों की भूमिका महत्वपूर्ण है। कथात्मकता की सीमाएं हैं, उसके प्रभावहीन होने के खतरों से कथाकार को जूझना पड़ सकता है। कहीं कथाकार का अनुभव और उसकी संवेदनशीलता कथा पर भारी न पड़े ।

ऐसे में कथाकार का अनुभव–विस्तार उसकी सम्पदा (एसेट) है या लाइएबिलिटी ? उसका संवेदनशील मन कथाकला पर अधिकार पाने में सहायक होता है कि बाधक ? वस्तुतः प्रश्न कथाकार के व्यक्तित्व का है कि वह किस कुशलता से अनुपस्थित रहते हुए भी कथा पर छाया रहता है। कविता के प्रसंग में ईलियट का निर्व्यक्तित्व--सिद्धान्त शायद कथा पर पूरी तरह से लागू नहीं किया जा सकता । हालांकि यहां भी ख़तरा रह सकता है कि कथाकार के अनुभव और संवेदना से बना इष्ट मिथक कथा में ढलने से रह जाए क्योंकि मिथक अपनी अनगढ़ता (क्रूडिटी) के कारण अधकचरा रह गया हो यानी कथाकार का अनुभव अपनी अवांछित उपस्थिति से हमें परेशान ही करता रहे। कभी कहानीकार पाठक

से वार्तालाप करने लग जाए, अथवा कहानी को सच्ची घटना पर आधारित बता कर उसे विश्वसनीय बनाना चाहे अथवा चरित्रों में भावहीन, यद्यपि भावुक रिश्ते क़ायम करके लिजलिजी मनःस्थिति का परिचय दे तो उपर्युक्त अवांछित स्थिति पैदा हो सकती है।

कथा में अनुभव की गति क्या होती है ? वस्तुतः अनुभव अपने दोनों आयामों अर्थात् विस्तार और गहराई, के साथ सूक्ष्म रूप में उपस्थित रहता है। कविता की तुलना में कहानी लेखक के अनुभवों को समझने में ज़्यादा सहायक होती है, यदि हम कथा में सृजित मिथक का सही आकलन कर सकें, मिथक रचना की प्रेरणाओं में जा सकें। प्रेमचन्द जेल गए या उन्होंने असहयोग आन्दोलन में भाग लिया या कि प्रगतिशील विचारों से प्रभावित रहे, उनके इन अनुभवों से बने मिथक उनके साहित्य में मौजूद हैं । इन मिथकों को समझ कर और उनकी आलोचनात्मक व्याख्या करके हम लेखक की जीवनी जाने बग़ैर भी जीवन अनुभवों की प्रकृति समझ सकते हैं। यशपाल के राजनीतिक उपक्रम और अज्ञेय के क्रान्तिकारी अभियान उनके कथासंदर्भों में, परोक्ष रूप में रचे बसे हैं। पर यदि हम कथाकार के जीवनानुभवों को उसकी कथा में एक और एक के समीकरण से (अर्थात यथावत) पाते हैं तो यह उसकी कला की अपरिपक्वता का परिचायक है। जब अनुभव के विस्तार और वैविध्य में से कथाकार छंटनी नहीं कर पाता और केवल कारगर (सार्थक) अनुभव को मिथक के दर्जे तक ऊपर उठा नहीं कर पाता तो कलाहीनता दर्शाता है। अनुभव का परिष्कार करके ही उसे विश्वसनीय मिथक बनाया जा सकता है। विश्वसनीय न हो तो सच्चा अनुभव भी अखरता है। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में लेखक अपने अनुभवों को आवश्यक नियंत्रण में नहीं रख सका है और उसके विवरण मोह में पड़कर अनगढ़ता (क्रूडिटी) को छिपा नहीं सका है, मिथक की गरिमा प्राप्त नहीं कर सका है। वस्तुतः अनुभव का विस्तार यदि कथाभूमि की विविधता और कथाफलक का फैलाव प्रदान करता है तो उससे उद्भूत मिथक को रचनात्मकता दे पाना बड़े कलाकार के बूते की ही बात है। केवल टॉलस्टाय ही ऐसे विस्तार को सम्हाल सके, वॉल्टर स्कॉट में विवरण का मोह कथा में व्यवधान पैदा करता है। प्रसाद का 'कंकाल' अनुभव के कमज़ोर नियोजन का उदाहरण है। बड़े उपन्यासों में विशेष तौर पर इस ख़तरे से लेखक को जूझना पड़ सकता है। कुशल कथाशिल्पी सावधानी से अपने सृजित मिथक का टेम्पो बनाए रखता है, पर उपन्यास का आकार बडा हो तो उससे और दक्षता की मांग करता है। 'झूठा सच' लेखक के सैद्धान्तिक आग्रह के बावजूद अनावश्यक विवरण को आड़े नहीं आने देता और

यही बात नरेश मेहता के 'यह पथ बन्धु था' के बारे में सत्य है। अनुभव की गहराई को विस्तार के जोखिम से बचाने की दृष्टि से 'अज्ञेय' का 'शेखर : एक जीवनी' एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है। वस्तुतः रचनात्व अनुभव के सीमित पर गहन होने तथा सही सम्प्रेषण से ज़्यादा सम्भव हो सकता है। विविध तथा विस्तृत कथाभूमियों से गुज़रने के बावजूद कई अनुभव रचना बनते बनते रह जाते हैं। अनुभव भौतिक ही नहीं मानसिक भी होते हैं। ज़रूरी यह है कि लेखक उनसे सर्जक का सम्बन्ध स्थापित कर पाए । कहानी यदि कहानीकार के जीवन के बारे में सूचना मात्र का भण्डार हो तो समझना चाहिए कि यथा तथ्यता का पुनर्सृजन नहीं हुआ है, मिथक की सृष्टि नहीं हो सकी है।

कथा के रचनाकर्म में अनुभव का साथ संवेदना देती है। संवेदना रचनाकार की दृष्टि तय करती है, चरित्रों और कथा स्थिति के प्रति उसकी अभिवृत्ति (एटीट्यूड) सुनिश्चित करती है । संवेदना कथाकार के व्यक्तित्व में इस तरह रची बसी होती है कि उसकी प्रतिभा का अनिवार्य अंग बन जाती है। इसी से अनुभव कथ्य में बदल जाताा है और कथ्य वस्तु चुनता है। कहानी में कोई एक चरित्र कहानीकार का दृष्टि बिन्दु या दृष्टि मंच होता है जिसमें प्रवेश कर वह शेष चरित्रों या घटनाओं को देखता है। दृष्टि बिन्दु का चुनाव तथा दृष्टि बिन्दु और शेष चरित्रों के सम्बन्धों तथा उनके प्रति अभिवृतियों का निर्धारण कथाकार की संवेदना से होता है। मोटे तौर पर देखें तो प्रेमचन्द, नागार्जुन और मार्कण्डेय की ग्रामजीवन सम्बन्धी कहानियों का कथ्य एक ही है, पर तीनों का वस्तु–चुनाव और चरित्रों की अन्तर्क्रियाएं भिन्न भिन्न हैं क्यों संवेदनाएं और अभिवृत्तियां भिन्न हैं। प्रेमचन्द अपने कथ्य से बेलाग दिखते हैं (विशेष कर वर्णनात्मक नरेशन के कारण) पर वस्तुतः उतने बेलाग नहीं जितने कि नागार्जुन या मार्कण्डेय हैं। अन्तिम दोनों कथाकारों का अपने चरित्रों से सम्बन्ध मुख्यतः सोद्देश्यता का है, संवेदनशील संसक्ति का नहीं। ये उन्हें अपनी विचारधारा का वाहन बनाने के बारे में ज़्यादा चिन्तित हैं। परन्तु दोनों कथा–शिल्पी सोद्देश्य न दिखने तथा बेलाग दूरी बनाए रखने के शिल्प का कुशल इस्तेमाल करते हैं । 'रेणु' की संसक्ति एक ओर ढंग की है। उसकी संवेदना का प्रतिफलन और तरह से होता है । अपनी संवेदना के घेरे में वे छोटी से छोटी घटना पर मामूली से चरित्र को लेते हैं। उनकी अपनी दृष्टि है पर आग्रह नहीं और इसलिए हम ज़्यादा सहजता से हीरामन या बालदेव या बिदापत गाने वाले किसान की सादगी और निश्छलता में शामिल हो जाते हैं और उनके सम्बन्धों का माधुर्य हमारा हो जाता है। 'उसने कहा था' , ' कोसीतट का घटवार' तथा 'परिन्दे' में चरित्रों का निर्वाह कथाकारों की भिन्न समवेदनाओं के कारण भिन्न

भिन्न हुआ है, यद्यपि मोटे तौर पर तीनों कथाओं का कथ्य एक सा लगता है। कुल मिलाकर इन कथाकारों का उद्देश्य पाठक को किसी भावुक नदी में बहा देना नहीं है परन्तु ऐसी अभिवृत्ति पैदा करना है कि किनारे रहकर ही लहर के साथ बहने का सुख पाया जा सके। देखने की बात है कि बहुत अनुकूल आलोचनात्मक समर्थन न पाने के बावजूद चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, लहना सिंह तथा सूबेदारनी के बीच का सम्बन्ध मोटे जोटेपन (क्रूडिटी) से बचाकर परिष्कृत कर पाए हैं। रचनाकार आलोचनात्मक समर्थन की राह नहीं जोहता बल्कि अपने लिए नई राहें खोजता है – ये राहें औचित्य या परम्परा की चिन्ता नहीं करतीं । प्रेमचन्द ने ऐसी परम्पराओं का उल्लंघन बार बार किया । कहीं आकस्मिकता या अप्रत्याशितता का पुट देकर तो कहीं जानी पहचानी स्थिति में विलक्षणता पैदा करके। यह उल्लंघन रचनात्मकता के दबावों से होता है, जिनको प्रेमचन्द के समकालीनों जैसे 'कौशिक' और सुदर्शन ने अनुभव नहीं किया । पारम्परिक दिखने के बावजूद 'निर्मला' का चरित्र अपने समय में विद्रोही दृष्टिकोण का प्रतिपादक था और यह प्रेमचन्द पर रचनात्मक दबाव का द्योतक है, उनकी संवेदना और दृष्टि का परिचायक है। इसके मुकाबिले में 'जहाज़ का पंछी' में लेखक स्वनिर्धारित सीमाओं में जकड़ जाता है, अपने बदले किसी सुने सिद्धान्त की अनुगूंज मात्र बनकर रह जाता है।

अनुभव कथा के मिथक को 'देशिक' आयाम प्रदान करता है और संवेदना 'कालिक' । देश तथा काल का तात्पर्य केवल स्थान और समय नहीं जो कहानी के घटनास्थल तथा प्रासंगिकता के निर्धारण पर ही ख़त्म हो जाए। देश का आयाम कहानी के ग्राफ को जीवन्त क्षणों के समानान्तर खींचता चलता है। काल का आयाम ईसीजी (हृदय कम्पन का विद्युतीय ग्राफ) की सरल प्राय रेखाओं के बीच उठते गिरते कोणों की तरह कहानी के हृदय की भीतरी गहराइयों का परिचय देता है। दोनों ग्राफों की सही परख से कहानी की सही समझ सम्भव हो सकती है, क्योंकि दोनों के सन्तुलन से सही सम्प्रेषण होता है।

•

प्रसंग गांधीवाद का : स्थिति हिंदी कहानी की

किसी भी राजनैतिक या सामाजिक विचारधारा अथवा मतवाद के संदर्भ में जब साहित्य का विवेचन करना हो तो वह याद रखना ज़रूरी होता है कि राजनीति या समाजिकता साहित्य की परिधि पर होती है और यह उसके विस्तार अथवा संकोच की केवल बाहरी सीमाएं निर्धारित कर सकती है। वृत्त के भीतर केवल रचनाकार और उसका संवेदनशील मानस होता है। रचनाकार बतौर सामाजिक प्रतिभागी, राजनीति से केवल सतह पर आन्दोलित या प्रभावित हो सकता है, क्योंकि आन्दोलन या प्रभाव जब उसकी रंचना में उतरते हैं तो उनका रूप काफी बदल कर उसकी दृष्टि से साहित्यिक यानी रचनात्मक हो जाता है। साहित्य में सतह की न स्थिति होती है न घटना, न भाषा न मुहावरा । यदि सतह की स्थिति घटना या भाषा–मुहावरे में बनी रहे तो रचना रचना न होकर प्रचार के लेखकीय आग्रह का परिचय मात्र होती है। हम ने देखा है कि गांधीवाद, मार्क्सवाद, समाजवाद, सर्वोदयवाद, जनवाद जैसी विचारधाराओं के तथाकथित 'प्रभाव' का लेखा जोखा प्रस्तुत करते हुए साहित्य में प्रचारवाद की मात्रा के प्रति आलोचना सदा अति संवेदनशील रही है। एक समय था कि मार्क्सवादी घोषणा का मूलमंत्र की तरह रचना में मौजूद होना आवश्यक और इष्ट माना जाता था। अब ऐसी घोषणाओं को केवल प्रतीकार्थ या संकेत के रूप में स्वीकार किया जाता है और ऐसे साहित्य को तथाकथित प्रगतिशीलता के वर्ग में दाखिला मिलता है।

गांधीवाद घोषित रूप में एक राजनीतिक विचारधारा है। भारत में इस विचारधारा की पहुंच समकालीन मार्क्सवादी विचारधारा से ज़्यादा थी (उसके

कारणों का विश्लेषण अप्रासंगिक होगा) और इसलिए इन दोनों में राजनैतिक प्रतिद्वंद्विता की दृष्टि से खासा संघर्ष रहा । बीच की एक समन्वयवादी राजनीतिक धारा भी चली जिसने इन दो विचारधाराओं को एक ही सामाजिक उद्देश्य यानी न्याय तथा समानता के लिए दो विरोधी रास्ते बताया । कहा गया कि साध्य एक ही था और साधन अलग थे। कइयों ने गांधीवाद को वामपंथी तो कइयों ने इसे वामपंथ के दक्षिणी किनारे की विचारधारा बताया । घोर वामपंथियों ने इसे शुद्ध दक्षिणपंथी विचारधारा कहा और अपना युद्ध इसके खिलाफ़ भी घोषित किया। यों इसी युद्धप्रवणता में भारतीय राजनीति बनती बिगड़ती रही है। पर इतना सच है कि गांधीवाद का प्रभाव, खासकर बीसवीं सदी के दूसरे दशक से लेकर आज तक जनजीवन पर इतना व्यापक और दूरगामी रहा है कि कोई सामाजिक राजनीतिक विचार सरणि इसे अनदेखा नहीं कर सकती । भारतीय लेखन के एक बड़े भाग को इस विचारधारा ने कहीं न कहीं छुआ । कारण स्पष्ट है – गांधीवाद देश की पारम्परिक सोच को मानकर ही उसमें परिवर्तन लाने की बात करता है। विगत को रद्द करके कोई भी विचार भविष्य के लिए बहुत विश्वसनीय नक्शा नहीं बना सकता।

हम जानते हैं कि गांधी जी के समकालीन कथाकारों ने सब से पहले परम्परा को स्वीकृत किया बाद में किसी सुनहले भविष्य के प्रति कोई चेतना पैदा की । परम्परा केवल इतिहास के पुनर्कथन या इतिहास की अतिरंजना के गायन के रूप में नहीं, बल्कि जीवित जन में पारम्परिक जीवन ढर्रें की सहानुभूति पूर्वक समझ के रूप में। प्रेमचन्द ने, जिन्हें इस विचारधारा ने कई स्तरों पर छुआ था, व्यक्तिगत जीवन तथा वैचारिक आन्दोलन के प्रसंग में इसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया दर्शाई भी थी । अपने प्रसिद्ध समाजवादी वक्तव्य 'महाजनी सभ्यता' में उन्होंने दलित और शोषित के सामने नए सूरज की साम्यवादी सम्भावना रखी, पर उसमें गांधीवादी साधनों से उस सूरज तक पहुँचने के विश्वास का निराकरण भी नहीं किया । अपनी बाद की कहानियों जैसे 'कफन' या 'पूस की रात' में उनकी कहानी का चरित्र सचेत है और वर्ग विद्वेष की गहरी रेखाएँ उभारता है पर गांधीवाद की सी तथाकथित 'स्वल्पगति' पर न व्यंग्य करता है न प्रहार । उस समय प्रेमचन्द काफ़ी परिपक्व कथाकार थे और साहित्यिक ज़िम्मेवादी निभाने में प्रौढ़, नहीं तो ये कहानियाँ सस्ते प्रचारवाद में धंस के रह जातीं । कहना यह है कि पूर्व की हृदय परिवर्तन वाली कहानियाँ जैसे 'बड़े घर की बेटी', 'आत्मा राम' 'बड़े भाई साहब', 'सुजानभगत' कला विकास के क्रम में पक कर दूसरे जन्म में आई तथा 'सद्‌गति' या 'ठाकुर का कुआँ' में उनका रूप निखर कर आया । हृदय परिवर्तन में आस्था

गांधी जी ने जगाई थी जो मनुष्य की आधारभूत अच्छाई और देवत्व में विश्वास रखते थे। इतना ही नहीं प्रेमचन्द की बीसियों कहानियों में गांधी के नैतिक विश्वासों जैसे सर्वात्मवाद, अपरिग्रह, परोपकार और राजनीतिक विश्वासों जैसे सत्याग्रह, असहयोग, अहिंसात्मकता पर उनके लेखकीय आग्रह की चरितार्थता के दर्शन होते हैं। उनमें ही नहीं उनके समकालीन सुदर्शन, कौशिक आदि में भी इनकी अनुगूंज सुनाई देती है। पर इस सब के पीछे भारतीय पारम्परिक आस्था क्रम को देखना चाहिए । सत्य, अस्तेय, निर्मोहता से व्यक्ति चरित्र में पैदा होने वाली मध्यमवर्गीय अभिवृत्ति ही वस्तुतः सनातन भारतीय विश्वास है। इन्हें समय समय पर हिन्दु, बौद्ध, जैन, सिख और दूसरे सन्त सम्प्रदायों ने अपना कर भारतीय चिन्तन को जो रूप दिया, गांधीवाद ने उसे न सिर्फ स्वीकार किया बल्कि उसे व्यवहार की कसौटी पर उतारा। ये विशेषताएं चूंकि मूलतः मानववादी हैं इसलिए जहाँ मनुष्य की आधारभूत सरलता का चित्रण हुआ वहां गांधी के द्वारा पैदा की गई हवा नवा का संदर्भ स्थिति में या चरित्र के चेतन अवचेतन में ढूंढा जा सकता है। भारतीय किसान और बेज़मीन मज़दूर की बिगड़ती स्थिति और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का कटु सुघर्ष जिसका परिणाम आज़ादी के रूप में निकला, गांधी जी को भी सालता रहा, यद्यपि उन्होंने उसका अपने ढंग का समाधान दिया। इस समाधान में उनका मानववाद सर्वनिरपेक्ष था । इस पर बड़ी बहसें हुई है और हम जानते हैं कि सबसे तगड़ी बहस देश की वामपंथी विचारधारा ने छेड़ी है, जो आज तक जारी है और जिससे आज तक हिन्दी ही क्या तमाम भाषाओं के कथाकार किसी न किसी रूप में उलझ रहे हैं।

गांधीवाद विचार को केवल बहस तक सीमित रखने के बजाय, व्यवहार में, प्रयोग में लाने के पक्षधर थे पर विचार को व्यवहार का सबल निर्देशक सिद्धान्त नहीं बनाते थे। इसीलिए न सिर्फ प्रेमचन्द बल्कि जैनेन्द्र और विष्णु प्रभाकर जैसे कहानीकारों के केवल विचार को हम उनकी कहानी के मूल्यांकन में निर्णायक नहीं मानते। पर इसके मुकाबिले में मार्क्सवादी विचार न सिर्फ बहस में बल्कि सामाजिक और साहित्यिक फलता में भी महत्वूपर्ण माना जाता है। यशपाल ने तो 'फूलों का कुर्ता', 'काला आदमी' जैसी कहानियों में गांधीवादी विचार की इष्ट सामाजिक परिवर्तन वाली तथाकथित सोद्देश्यता का परिहास उड़ाया क्योंकि मार्क्सवादी दृष्टिकोण न तो विचार को विचार तक ही सीमित रखने के पक्ष में है और न उसे किसी अन्य विचारधारा में प्रभविष्णता दिखती है। जो भी हो यशपाल तथा बाद के प्रगतिवादी कथाकारों जैसे कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, भीष्म साहनी, रघुवीर सहाय, अमृतराय आदि में यदि गांधीवादी प्रासंगिकता देखने लगें तो वह केवल इस

हद तक मिल सकती है कि गांधी जी ने जो भारतीय निम्नवर्ग की ओर शिष्टवर्ग का ध्यान दिलाया, वस्तुतः वह मार्क्सवादी आग्रह से ही फलीभूत हुआ है। गांधी जी के इस उपक्रम भर से जयशंकर प्रसाद की 'मधुआ' जैसी कहानी और 'कंकाल' जैसा उपन्यास भी जोड़ा जा सकता है और प्रसाद का यह कथन भी कि यथार्थवाद लघुता के प्रति साहित्यिक दृष्टिपात होता है।

हिन्दी कहानी में 'यथार्थवाद' कई शाखाओं मे और कई नामों–उपनामों–परिभाषाओं–सीमाओं, सम्भावनाओं के साथ जीवित रहा है यह कहानी के ही जीवित रहने की प्रतिभूति है। भारतीय साहित्य में आधारभूत यथार्थवाद की नींव में गान्धीवाद को ही कहां तक देखा जाए, यह प्रश्न बना रहेगा । पर इतना ज़रूर है कि हिन्दी कहानी, हिन्दी कविता, नाटक आदि अन्य रचनात्मक विधाओं की तरह प्रगतिवादी यथार्थ (या जिसे सामाजिक यथार्थ कहा गया था) की बलवान हवाओं में पूरी तरह ढह नहीं गई और उसमें 'रोज़' तथा 'हीलीबोन की बत्तखें' (अज्ञेय) 'उया' (अश्क), 'कोसी तट का घटवार' और 'बदबू' (शेखर जोशी), 'रसप्रिया' 'लाल पान की बेगम' 'तीसरी कसम' (रेणु) 'ऊंचाई' 'नशा' (मन्नू), 'दोपहर का भोजन' (अमरकांत), 'मिस पाल','मलबे का मालिक', (राकेश), 'गुलकी बन्नो', 'आश्रम' (भारती) 'मित्रो मर जानी (कृष्णा सोबती), 'छोटे छोटे ताजमहल', 'टूटना' (यादव) जैसी असंख्य कहानियां भी लिखी गई हैं । ऐसी कहानियों में रचनाकार कहानी की परिधि पर भी उतना ही सचेत है जितना केन्द्र में । वह मन की, समझ में न आने वाली वृत्तियों को, समझता है और हमेशा मनुष्य की तथाकथित बेहूदा हरकतों के फार्मूलाई हल नहीं देता । मनुष्य को सामाजिक लहर तथा प्रतिलहर के बीच एक दुर्व्याख्येय अस्तित्व मानकर चलने में कितना गांधीवाद का स्वीकार है और मार्क्सवाद का अस्वीकार, यह अलग बहस का विषय हो सकता है। पर इतना अवश्य है कि हिन्दी कथा में जितना हिन्दी भाषी जाति का चरित्र सुरक्षित रहेगा उतना स्वर्गीय गांधी जी प्रसन्न होंगे। क्या पता अब स्वर्गीय मार्क्स भी गनीमत मानें, क्योंकि शायद उन्हें भी समकालीन कथा में अपने विचार की अतिशयता कभी–कभी अनावश्यक लगे।



स्वातंत्र्योत्तर मंच नाटक : अस्मिता की खोज

पुरानी बहस है कि नाटक किसका माध्यम है – लेखक, अभिनेता या निर्देशक का ? अभिनेता और निर्देशक को एक ही उपवर्ग में रखें तो बहस के दो पक्ष लेखक तथा निर्देशक के होते हैं। इस में से कौन इस माध्यम को अपनी प्रतिभा के प्रकाश के लिए इस्तेमाल करने में ज़्यादा सक्षम है या यह कि कौन अपनी प्रतिभा से इसे प्रकाश में लाता है ? इस प्रश्न के उत्तर का सीधा सम्बन्ध हमारे देश में मंच नाटक के विकास के साथ है। पिछली कुछ शताब्दियों में यहां लेखक अभिनेता और अगर ज़रूरत पडी तो प्रबन्धक मिल कर नाटक चलाते ज़्यादा थे खेलते कम थे। रंगमंच को एक स्वतन्त्र संस्था के रूप में विकसने के अवसर सुलभ नहीं थे। संस्कृत रंगमंच की परम्परा नष्टप्राय थी। हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि भरत ने सूत्रधार को प्रथम महत्त्व दिया, लेखक बाद में आया करता था । समय गुज़रने के साथ मंच का ह्रास हुआ और लेखक प्रमुख होता गया । संस्कृत के परवर्ती नाटकों में मंच की तकरीबन अनुपस्थिति के बावजूद, मंच चेतना फिर भी कमोबेश प्रभावी रही : पर देश–भाषाओं में यह सर्वथा गायब ही हो गई और यदा कदा लेखक के प्रमुख होने के नतीजे में लिखित शब्द कथित शब्द का स्थान लेने लगा। पता नहीं कि हिन्दी का समीक्षक इतिहासकार ऐसे लेखक के प्रति आभार प्रकट करते क्यों नहीं थकता जिसका शब्द वार्तालाप में होकर भी गतिहीन बयान देता

है : किसी गत्यात्मक क्षण का आभास नहीं कराता । शब्द नाटक का माध्यम नहीं बल्कि शब्द के न होने पर भी कभी नाटक यहां वहां संवरा बिखरा होता है । पिछले चालीस–पचास वर्षों में हिन्दी नाटक का मुहावरा लौट आने लगा है। स्थिति की पुनर्रचना में और इसलिए प्रस्तुति में । इससे यह निर्देशक के हाथों आ गयां है और उसके मन्तव्य की कद्र होनी लगी है । इस सम्बन्ध में कई ऐसी स्पर्धात्मक स्थितियों की चर्चा होने लगी है, जबकि निर्देशक लेखक से आगे निकल गया हो, या लेखक की लीक के अगल बगल में चलने लगा हो – पर इसकी छूट का उसे अधिकार है और इ से हम व्याख्या या इन्टरप्रिटेशन कहते हैं। विभिन्न व्याख्याओं के उदाहरण 'अन्धायुग' की प्रस्तुतियों ने पेश किए । अल्काजी ने फिरोज़शाह कोटला दिल्ली में तथा सत्यदेव दुबे से चौखटा रंगमंच पर बम्बई में जो ऐतिहासिक प्रस्तुतियां पेश की वे भिन्न अर्थों के द्वार खोजने में सहायक हुईं । 'एवम् इन्द्रजित' को हिन्दी में कितनी बार खेला गया पर ब0 ब0 कारंत ने जब इसे कोरस प्रधान यूनानी मंच शैली में पेश किया तो अर्थ बदल गया । 'गोदो का इंतज़ार' को यथार्थवादी या प्रतीकात्मक दृश्यबंध में खेलने से मात्र ऊब का सम्प्रेषण हो सका जबकि ग्रउतस्की द्वारा दृश्यबंध की उपेक्षा करके अभिनेताओं के शारीरिक आयामों में उभारकर श्रम की निरर्थक परिणति तथा जीवन के मशीनीकरण का अर्थ निकला ।

रंगशैली का चुनाव निर्देशक करता है जबकि लेखक को मंच की न्यूनतम अनिवार्यताओं को निभाना पड़ सकता है। इससे आलेख तथा मंच परस्पर निर्भर हो रहे हैं। हिन्दी का नाटककार शैलीकरण के प्रति सचेत हो गया है और वह अपनी रचना प्रक्रिया के तथा प्रथम मंचन के दौरान होने वाले अनुभवों का व्यौरा देता है। यह सिलसिला अश्क से ही शुरू हुआ था और राकेश, लाल, मुद्राराक्षस, जगदीशचन्द्र माथुर आदि में चला । नाटककार प्रस्तुति की सम्भव options का संकेत भी देता है। इससे निर्देशक को सुविधा भी हो सकती है और उसकी स्वेच्छाचारी प्रयोगशीलता पर अंकुश भी लग सकता है। इस प्रकार की आदान प्रदान की स्थिति वांछनीय है, बल्कि इसका अभाव समस्या पैदा कर सकता है। हमें जयशंकर प्रसाद की वह अहमोक्ति याद है जिसमें उन्होंने मंच के आलेख के अधीन होने का आदेश दिया था । स्पष्ट ही उन्होंने गत शती के तीसरे–चौथे दशक में लोक–शैलियों के कुंठित बिखराव, जनसाधारण पर आरोपित सस्ते पारसी नाटकों की लोकप्रियता तथा हिन्दी के गम्भीर रंगमंच के अनस्तित्व की पीड़ा को वाणी दी थी। खुद नाटक रचना करते समय उन्होंने इस अनस्तित्व को भोगा। परन्तु पारसी मंच की सर्वनिरपेक्ष अवहेलना करते हुए किसी हद तक पूर्वग्रह के वश

में थे। कम से कम आम हश्र कश्मीरी इतनी उपेक्षा के हक़दार नहीं थे। हम ने उस मंच के साथ जुड़े रहकर भी बहुत हद तक साहित्यिकता को निभाए रखा, जो प्रसाद की शिकायत का निराकरण करने के लिए काफी है। रंगमंच जैसा भी हो अपने समय की जनरुचि तथा आकांक्षाओं का दर्पण होता है। लिखित शब्द पिछड़ सकता है पर मंचित शब्द नहीं क्योंकि वह आगामी क्षण के तेवर दर्शक के माथे से पढ़ लेता है। साहित्यिकता के इस के पूर्वग्रह ने हमें हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्द वल्लभ पन्त, लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा सेठ गोविन्द दास जैसे नाटककार दिए। खैरियत यह है कि मंच के रुख को जैसा बदलना था, उसके लिए भुवनेश्वर, रामकुमार वर्मा तथा उपेन्द्रनाथ अश्क ने तकरीबन इसी समय उचित हवा नवा तैयार की। यह भी देखने की बात है कि रामकुमार तथा अश्क की परिणति कितनी भिन्न हुई। वर्मा खेले जाने से ज़्यादा पढ़े जाते हैं, जब कि अश्क का मज़ा खेलने में है। परवर्ती नाटककारों पर भुवनेश्वर तथा अश्क का प्रभाव ज़्यादा है। रामकुमार के ऐतिहासिक नाटकों का स्वर भारी हो फिर भी वे हरिकृष्ण प्रेमी और लक्ष्मीनारायण मिश्र के इसी प्रकार के नाटकों से बहुत ज़्यादा मंचीय हैं।

यह सन्तोष की बात है कि हिन्दी के मंच नाटक का अभ्युदय देशव्यापी सांस्कृतिक अभ्युदय के साधन–रूप में हुआ। इस देश में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रक्रिया स्वतन्त्रता की राजनीतिक चेतना के साथ ही शुरू हुई और उसका प्रतिफलन हिन्दी से ज़्यादा मराठी कन्नड बंगला जैसी भाषाओं में हुआ । शास्त्रीय नृत्य तथा संगीत के प्रति मध्यवर्ग के उदार बनने के साथ ही लोग नाटक तथा रंगकर्मियों के प्रति भी सहनशील होते गए। राष्ट्रीय चेतना के उदय के कारण पारम्परिक कलाओं में सुरुचि देखी जाने लगी और इस तरह लोकनाट्य शैलियों ने अभिजात गोष्ठों में स्थान बना लिया। संयोग से हिन्दी वह रास्ता है जिससे होकर चाहे अनचाहे सबको गुज़रना पड़ता है। सार्वभौमिकता का शर्तनामा हिन्दी में ही लिखा रहता है। अन्य भाषाओं में विख्यात नाटक जैसे तुग़लक, हयवदन, घासीराम कोतवाल, गिद्ध, किसी एक फूल का नाम लो, पगला घोड़ा, एवम इन्द्रजित हिन्दी के माध्यम से ही देशव्यापी चर्चा के पात्र बन सके हैं। इससे हिन्दी का हित हुआ । पर आधुनिक भारतीय रंगमंच की यात्रा ही सन्तोषप्रद नहीं, हिन्दी का मंच इस यात्रा में सबसे कठिन पड़ावों से गुज़रा है। उत्तर तथा मध्य देश अंग्रेज़ आधिपत्य के बाद पैदा होने वाली उपनगरीकरण की प्रवृत्ति का शिकार हुआ और हमारा जन अपनी सांस्कृतिक भूमि से कटता गया। पूंजीवादी विकास की यह सामाजिक प्रक्रिया होती है। पलायनवादी मनोवृत्ति बनियाई सिनेमा का मायावी संसार पैदा करती है जो मनोरंजन के एक मात्र उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किसी

भी गर्हित गहराई में जाने के काबिल होता है। दुर्भाग्य से ऐसे सिनेमा का नेतृत्व हिन्दी कर रही है, जिसके पास मंच पर देने योग्य कोई ज़्यादा सस्ती ज़्यादा प्रभावी चीज़ नहीं हो सकती न ही वह चीज़ सिनेमा सी व्यावसायिक हो सकती है। राजनीति–चेतना के केन्द्र महानगर या नगर बनकर उभरे (जो प्रक्रिया उल्टी थी और जिसे गांधी जी ने अपने ढंग से सीधा करना चाहा था) तो यत्किंचित मंच भी वहां पनपने लगा। नाटक मंडलियों के अपने प्रयत्नों से इतना भर हुआ कि उनके अपने सीमित दर्शक वर्ग बने। इससे कोई सांस्कृतिक चेतना नहीं बनती। अभिनेताओं तथा निर्देशकों के गौरवशाली व्यक्तित्व भी उभरे। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय जैसी सम्पन्न संरक्षित संस्थाओं ने दिल्ली के बाहर भी प्रस्तुतियाँ दी जिनमें 'आधे अधूरे' ' बेगम का तकिया', 'मुख्य मन्त्री' 'होरी' जैसी उल्लेखनीय हैं पर इन से भी देश में कोई नाटक–संस्कृति नहीं पनप सकी। अधिकतर हुआ यह कि दर्शक वर्ग को बनाए रखा नया विस्तृत नहीं भी किया गया हो। एम0 के0 रैना के 'कबिरा खड़ा बाज़ार में' तथा अनामिका (कतकत्ता) द्वारा सप्ताहांत नाटकों की श्रृंखला, इस दिशा में स्तुत्य प्रयास थे। लखनऊ, गोरखपुर, इलाहाबाद, उज्जैन, मुंबई जैसे केन्द्रों में लगातार प्रदर्शनों के समाचार भी आते रहते हैं, पर इतने से मूल भारतीय सांस्कृतिक प्रक्रिया के तीव्र होने का बल नहीं मिलता।

नगर प्रधान होने के कारण नाट्य लेखक विभिन्न नाट्य शैलियों तथा गिमिक्स से लाभ उठाना चाहते हैं। इससे सामयिक प्रभाव तेज़ हो जाता है, पर समय की सीमाएं लांघने के लिए प्रभाव नाटक की मूल वस्तु में पहले होना चाहिए। ऊपरी रूप क्षण क्षण बदल सकता है पर संस्कृति चाम के नीचे होती है, जिसके विकास में शिल्प की अपेक्षा वस्तु सहायक होती है। इसी कारण पिछले चार दशकों में ऐसे ही नाटक नई ज़मीन तोड़ सके जिनकी न सिर्फ गंध बल्कि मिट्टी भी देशी है। लाल के 'अंधा कुंआ' तथा 'मादा कैक्टस' रूपात्मकता से इतना ग्रस्त है कि नाटक की दृष्टि पर परकीय लगती है। तकरीबन यही बात सुरेन्द्र वर्मा के 'दौपदी' तथा ' बूस्टर' की है। वर्मा अपने परिवेश की गहराई में उतरने की घोषणा करते हैं पर ज़्यादतर ऊपर की तह ही छू कर निकल जाते हैं। लगता है कि नाटक एक तथ्य मात्र को उघाडना चाहते हैं। 'सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' तथा 'आठवां सर्ग' में एक अर्ध ऐतिहासिक व्याज़ ढूंढते हैं और उस पर समकालीन स्थिति की व्यक्तिगत प्रतिक्रिया आरोपित करते लगते हैं। इनके मुकाबिले में शंकर शेष के ' अरे मायावी सरोवर' में व्यक्तिगत जीवन की सीमाओं तथा सामान्य लोकजीवन की उन्मुक्तताओं को स्वीकार करके ही नाट्यलेखन की पहचान कायम हो सकती है। इतिहास या पुराण में जाकर जब लेखक घटना/चरित्र

का रैशनेल समझने का उपक्रम करता है तो उपकरण उसके अपने ज़माने के ही होंगे। पर अपने ज़माने के न हल हो रहे विवादों का ऐतिहासिक पुट चरित्र पर थोप कर हल निकालना एक दूसरी तरह का पलायन है। नंद का मानसिक संघर्ष एक आलेखित (डाक्यूमेंटिड) सत्य है। राकेश ने उसके विवरण दिए तो उसकी सर्जनात्मक कलम से पुनर्जीवित हो उठे। कुमारसम्भव की तथाकथित अपूर्ति की संभव पूर्ति के दौरान हुई संभव घटनाओं की कल्पना करते हुए सुरेन्द्र वर्मा कालिदास (का एक भ्रम) एकदम खींच कर वर्तमान में लाए और उसे आज की समस्या का बड़बोला वकील बना दिया । चरित्र न इतिहास की सीमा बनाए रख सका और न ही मिथक का बहु आयामी अर्थ पा सका। इस देश में राजनीति लेखक को उपेक्षित छोड़ कर ही मौज उड़ाते रहना चाहती है, उसकी जकड से स्वतन्त्र होने की बात कुछ दूर की सूझ है। यहां तो लेखक प्रकृत्या राजनीति से दूर रहता है और ज़रूरत इस बात की है कि वह इससे सम्पृक्त हो इसके प्रकाश तथा अन्धेरे पक्षों को पहचाने।

पिछले दो–तीन दशकों में हिन्दी मंच–नाटक की उपलब्धि यह है कि यह अपनी पहचान कायम करने के प्रति सचेष्ट रहा है । कला की पहली पहचान उसकी क्षेत्रीय प्रासंगिकता में होती है। पहचान पश्चिमी प्रभावों के विरोध में ही स्पष्ट उभरे यह ज़रूरी नहीं। पश्चिमी रंग दृष्टि, यथार्थवादी चौखट, अतिआलंकारिकता से मुक्ति तथा ध्वनि–प्रकाश के सही इस्तेमाल के उपक्रम से पुष्ट हुई और योग के क्रिया व्यापारों से होती हुई उभरी, जिसे गार्डन क्रेग स्तानिस्लवस्की, मौरिस ब्राउन, इलिया कज़ान, सर्जी ग्राउतस्की जैसे निर्देशको ने परवान चढ़ाया । पर इसमें दो महायुद्धों के बीच के संशय ग्रस्त मन, प्रगतिशील जन की सामाजिक आकांक्षओं और शीतयुद्ध से उत्पन्न ऊब थकान तथाथित अर्थहीनता और लघुमानवता की अनुभूति तथा वर्जनाओं और भीतियों ने वस्तुगत सम्पन्नता दी। बेख्त ने इसमें सामाजिक आशय का अंग जोड़ दिया तथा वर्तमान के विषाद में स्थिति की अंतर्भूत अनित्यता को उजागर किया। सांस्कृतिक आदान–प्रदान के बावजूद इस रंग दृष्टि की पश्चिमी संगति हमें सदा ध्यान में रखनी चाहिए। हिन्दी रंगमंच इसकी अनावश्यक अनुकृति से अपनी पहचान खो देता है। यह ठीक है कि महायुद्ध के विश्वव्यापी परिणामों समाजवादी क्रांति से पैदा होने वाली सम्भावनाओं और देशी अर्थव्यवस्था के वैषम्य ने जन–मानस को कई प्रश्नों के समाने खड़ा किया जो एक साथ देशी तथा विदेशी लगते हैं। इन से वह अपने उत्सों की सार्थक तलाश के प्रति भी उत्सुक हुआ जब नाटक केवल महानगरी संदर्भ में प्रासंगिक हो गया तो किसी ताजा आए पश्चिमी झोंके में बहता नज़र आया। 'रातरानी' का देशी

परिवार किसी देशी त्रासदी से बिद्ध नहीं लगता, जबकि 'कर्फ्यू' में लेखक अपनी भूमिका तलाश करता दिखता है। 'गुफाएं' (मुद्राराक्षस) का परिवार भी सीमित महानगरीय संदर्भ के कारण 'संत्रास' को ओढता दिखता है। इसमें प्रस्तुति सम्बन्धी प्रयोग का आग्रह है। 'तिलचट्टे' में चरित्रों की प्रतीकात्मकता का आग्रह थोपा हुआ लगता है। प्रतीक की महत्ता खुद बने रहने में है जिससे अप्रस्तुत भी उपस्थित रहे। एक से दूसरे तक का संक्रमण इतना सूक्ष्म होना चाहिए कि सम्प्रेषण में बाधा न हो और यह बाधा भारतीय रंगदृष्टि ने खूब समझी थी। पौराणिक चरित्रों पर आज की समस्याओं के आरोपण से नैतिकता को कोई ख़तरा नहीं पर सवाल भूमि का है। कहीं जंगली कैक्टस का पैंबद आम्र मंजरी को खा तो नहीं जाएगा। नरसिंह, प्रहलाद, शुक्राचार्य भारतीय साहित्य परम्परा के उतने ही अंग हैं जितने द्रोण अर्जुन और एकलव्य, पर 'नरसिंह कथा' आयातित तंत्र के पहले प्रयोग के मोह में पड़कर अपनी पहचान नहीं बना पाता जबकि 'एक और द्रोणाचार्य' में समकालीन भारतीय परिवेश को एक समानांतर अर्थ देने का सफल उपक्रम है। जिस देश में स्त्री अभी तक गुलामी में दी जाने वाली मामूली सहूलियतों की यथेष्ठ शिक्षा भी प्राप्त नहीं कर पा रही वहां देवयानी के माध्यम से तथाकथित स्त्री–मुक्ति की बात केवल नाटकीय चमत्कार का पर्याय हो सकती है। राजनीतिक कलाबाज़ी का अनावरण करते हुए 'बकरी' अलबत्ता, हमें कथ्य तथा मंचीयता की अपनी भूमि से जोड़ता है। 'हानूश' (भीष्म साहनी) का कथानक विदेशी होने के बावजूद अपने आसपास को देखने की ऐसे दृष्टि देता हे कि हिन्दी के लिए परकीय नहीं लगता।

विदेशी मंचतन्त्र ने हमें अलंकारिक मुक्ताकाशी, नुक्कड, सम्पूर्ण तथा विलगतावादी रंगमंच की पहचान कराई, जिससे हमने इसके समानान्तर तत्त्व अपनी परम्परा में खोज निकाले और यहां मौजूद लोक रंगशैलियों की प्रतिभाएं भी खोज निकालीं। कई परम्पराएं जैसे नौटंकी, तमाशा, भवाई, जात्रा, भाण्ड अक्षुण्ण मौजूद थीं तो इन्हें गम्भीर मानवीय समस्याओं के अर्थ का वाहक बनाया गया जिससे नाटक प्रभावशाली हो उठा। नाटक का आलेख इनकी विदित सीमाओं तथा सम्भावनाओं से सुसज्जित हो उठा इसलिए समकालीन अर्थ को बताने के लिए तैयार हो गया। इस दिशा में ब ब कारंत, बंसी कौल, दीपक केजरीवाल, हबीब तनवीर, एम0 के0 रैना प्रभृति के प्रयास उल्लेखनीय हैं। पर इन विधाओं के प्रति सम्पूर्ण समर्पण की ज़रूरत है जैसे कि हबीब तनवीर ने प्रतिश्रुत होकर 'चरणदास चोर' तथा 'गांव का नाम ससुराल मेरा नाम दामाद' जैसी प्रस्तुतियां दे कर दिखाया। 'सैंया भए कोतवाल' को दिल्ली में तमाशा शैली में सफलता से पेश

किया गया । ऐसे नाटकों के लिए लेखक को ड्राइंग रूमी सोच से बाहर आकर ही लिखना पड़ेगा जो लिखित शब्द को फिर से ज़िन्दा करेगा। क्या वजह है कि मंच को सरकारी तथा गैर सरकारी संरक्षण मिलने के बाद भी हम ज़्यादा से ज़्यादा इस तथ्य पर गर्व कर सकते हैं कि 'कबिरा खड़ा बाज़ार में' एक वर्ष तक खेला जाता रहा और 'आषाढ़ का एक दिन' 'सिंहासन खाली है' 'पांचवां सवाल' 'लड़ाई' की दस–दस बीस–बीस प्रस्तुतियाँ हुईं और बस, जबकि भारतीय कला केन्द्र का 'रामलीला' 25 वर्ष चलता रहा। यद्यपि उसका मंचन तंत्र बदला। कथा वही पुरानी है – 'सियाराम और जानकी वाली'। शायद हमें अपनी ही भूमि में नई परम्पराओं की खोज करनी होगी जो पहले दर्शक की सांस्कृतिक भूख जगा दे और फिर तृप्त करे। उसे हमें 'रेणु' की तरह माटी की गंध से लेना होगा, भीष्म साहनी और रेवतीशरण शर्मा की तरह साधारण और सामयिक असाधरणता को पकड़ना होगा और राकेश की तरह नाटक की संरचना में ही स्थिति के वैषम्य को रचाना बसाना होगा। पिछले चार–पांच दशकों में, कुल मिला कर हिन्दी नाटक अपनी इयत्ता की इसी पहचान की खोज में सचेष्ट है।

स्पष्ट है कि रंगमंच की वर्तमान स्थिति, अस्मिता की खोज और स्थापना के सतत प्रयास की ओर इंगित करती है। वस्तुतः स्वतंत्रता के एकदम बाद से आज तक तीन पीढ़ियाँ रंग कर्म से जुड़ी रही हैं। श्री सत्येन्द्र कुंमार तनेजा ने भारतीय रंगमहोत्सव 1999, 2000, 2001 के आयोजनों में प्रदर्शित नाटकों का तथा संगीत नाटक अकादमी की नाटक–मंचन–संगोष्ठियों का आकलन करते हुए कहा है कि उपर्युक्त तीन पीढ़ियों में पहली 'रंग विभूतियों' के सामने 'कोई स्पष्ट दृष्टिपथ नहीं था, परन्तु उनके स्वतः प्रेरित प्रश्नाकुल अंतर्मन में प्रस्तुति–अन्वेषण की अनवरत व्यग्रता थी। वे कला, साहित्य, संस्कृति के गम्भीर अध्येता थे ....' दूसरी पीढ़ी की कर्मप्रणाली में विद्रोहात्मक आत्म–विश्वास था। इनके संस्कार अलग थे। इन निर्देशकों में सुरुचि और संवेदना का नैसर्गिक अनुपात था। तीसरी पीढ़ी आज की उपयोगितावादी संस्कृति की उपज है ' जिसके अधिकांश कलाकार रंग–कर्म का एक सीढ़ी के रूप में इस्तेमाल कर रहे हैं ' (समकालीन भारतीय साहित्य)

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पिछले कम से कम एक दशक में हिन्दी का मंच नाटक अधिकांश रचना–साहित्य की तरह बहुत हद तक प्रतिबद्ध (तथाकथित जनवादी) विचारधाराओं को समर्पित रहा है क्योंकि सामाजिक भेद–विभेद की रेखाएं तीव्र से तीव्रतर होती गई हैं। ऐसे में तथाकथित नुक्कड़ नाटक (जिसकी प्रस्तुति में तमाशा नहीं चाहिए) फला–फूला और इसमें मंचन की पारम्परिक, लोक

तथा पश्चिमी तीनों प्रकार की रंग–शैलियों का उपयोगिता के अनुसार प्रयोग किया जाता रहा है। देखें तो इस शैली के हिन्दी में सचेत प्रयोग की शुरुआत सर्वेश्वर के नाटकों (लड़ाई, बकरी) में हुई थी, यद्यपि उससे पहले बादल सरकार ने 'थर्ड थियेटर' में निम्न–मध्यवर्ग की अपेक्षाओं को केन्द्र में रखकर कई साहसी कदम उठाए थे। इनसे आगे चलकर भारतीय मंचन शैली (तथा नाट्यालेखन) को एक चिन्तनीय दिशा का दर्शन कराया गया था। वामपंथी आंदोलनों में इसे एक औज़ार की तरह इस्तेमाल किया गया। सफदर हाशमी और गुरुशरण सिंह जैसे प्रतिबद्ध निर्देशक ऐसे ही आन्दोलनों की उपज थे। नतीजतन मंचन में एक नवीन बल आ गया था और थी संदेश पहुँचाने के लिए 'बॉडी थियेटर' की सम्भावनाओं की निरंतर खोज की बेचैनी। जैसा सम्भावित था सरकारी तन्त्र ने (उदाहरणतः प्रौढ़ शिक्षा निदेशलय ने) न केवल लोकप्रिय सामाजिक विषयों – शिक्षा, सौहार्द, साक्षरता, पर्यावरण जैसे विषयों पर लेख लिखवाए, सड़क नाटकों के प्रदर्शन करवाए, बल्कि आलेखों को (लेखकों के नाम दिए बगैर) नुक्कड़–1,2 नाम से प्रकाशित भी कराया । इन्हीं में कुसुम कुमार के 'वह रंग शाम' और 'दो सड़क नाटक' को भी रखा जा सकता है।

मंच की प्रगति के इस परिदृश्य को सामने रखकर देखें तो आज अभिनेता–निर्देशक के सामने सबसे बड़ा प्रश्न है कि वह उपलब्ध पश्चिमी, भारतीय शास्त्रीय, लोक तथा सड़क नाट्य शैलियों का बेहतरीन उपयोग कैसे करे जो उसके लिए सुविधाजनक भी हो और उसकी अभिव्यक्ति के लिए सक्षम भी हो। इस विषय पर नेमिचन्द्र जैन ने 'रंग परम्परा : भारतीय नाट्य में निरंतरता और बदलाव (1996)' में बड़ा समर्थ चिन्तन किया है। उनका मानना है कि अभी कोई स्पष्ट तस्वीर उभर नहीं पाई है। इस पर पर्याप्त चिन्तन भी नहीं हुआ है। भारतीय रंग के इतिहास और विकास पर प्रसिद्ध रंगकर्मी शम्भु मित्र ने चिन्तन लेखन की शुरुआत की थी, पर वह आगे उसी उत्साह के साथ चला नहीं। श्री जैन की उपर्युक्त पुस्तक इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। उनका कहना है कि नाटक के आलेख में लेखक का अपना एक अर्थ निहित रहता है। निर्देशक जो अर्थ ग्रहण करता है वह दूसरा है, पर वहीं अर्थ अभिनेता नहीं लेता बल्कि उसका अपना एक अर्थ होता है जिसे वह रूपायित करता है। यह सम्भव है कि इन सब से अलग दर्शक अपना अर्थ खोज ले। यह प्रक्रिया जहां पूर्ण होती है नाट्यकर्म तमाम कृत्रिमताओं से मुक्त हो जाता है।

इसी प्रसंग में कुछ ऐसे नाटकों तथा प्रस्तुतियों का उल्लेख किया जा

सकता है जिनमें उपर्युक्त सम्पूर्णता के लिए गुंजाइश रखी गई है। तथ्यपरक इतिहास या काल्पनिक परन्तु सम्भव ऐतिहासिक हवालों पर आधारित नाटकों में इस प्रकार की गुंजाइश होती है। ऐसे नाटकों में चरित्र घटना परिवेश आदि अतीत में स्थापित होता है, पर नाटक का ताना बाना वर्तमान या समकालीन सत्यों के उद्घाटन के उद्देश्य से बुना गया होता है। कुल मिलाकर नाटक किसी समकालीन सत्य की नाटककार की समझ और अभिवृत्ति पर आधारित होता है।

ऐसे नाटककारों में दूधनाथ सिंह, किरणचन्द्र शर्मा, राजेश्वरप्रसाद सिंह, गुरुदत्त पांडे तथा मीरा कान्त के नाम लिए जा सकते हैं। कुछ नाटककारों पर 'अंधा युग' या 'तुगलक' जैसे नाटकों का प्रभाव दिखता है। गद्य–पद्य, कथा–गायन, वक्ता–श्रोता दोनों की उपस्थिति, दृश्यबंधों की निर्बाध प्रवहमानता आदि इधर के नए नाट्य–वातावरण की ओर संकेत करता है। मीरा कान्त इन नाटककारों में एक अलग स्थान रखती हैं। इनकी सब से बड़ी विशेषता उपर्युक्त नाटकीय मुहावरे पर इनकी पकड़ है और मंच की गहरी सूझ है । उनके 'ईहामृग' (2003) के ताने बाने में मूलभूत मनुष्य सुलभ आकांक्षा को इतिहास के प्रसंग से बुनने की कोशिश की गयी है। यह नाटक दिल्ली सल्तनत से पहले की " ढिल्लिका के रंगपटल को एक अलग भाषाई रचाव के साथ प्रस्तुत करता है। " (सुषमा भटनागर) दूसरे नाटक नेपथ्य राग' में भी मीरा ने एक अत्यन्त समकालीन तथा अत्यन्त ज्वलन्त प्रश्न को उठाया है कि वैचारिक अभिव्यक्ति से रहित स्त्री ही समाज को क्यों स्वीकार्य हो, जब कि जिह्वा और मेधा के बिना वह कुछ दे नहीं सकती। नाटक इस विडम्बना को लेकर चलता है कि पुरुष को स्त्री की इन दो प्रतिभाओं के होने न होने से फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि समाज पर छा जाने के लिए उस ने भी हमेशा अपनी हीनतर शक्तियों का ही ज़्यादा प्रयोग किया है, बेहतर क्षमताओं का नहीं । मीरा का तीसरा नाटक 'भुवनेश्वर दर भुवनेश्वर' उनकी मंच चेतना के चरम विकास का द्योतक है। यह नाटक हिन्दी के आधुनिक तथा एब्सर्ड नाटक के जनक भुवनेश्वर पर केन्द्रित है और एक प्रकार से एकांकी के शिल्प विस्तार का द्योतक है जिसमें मर्म को छूने के काव्योपक्रम तथा यथार्थ को उघाड़ने की सटीक भाषा, दोनों का बहुत ही सक्षम उपयोग किया गया है। भुवनेश्वर के नाटकों से कुछ समयसिद्ध वार्तालाप इस नाटक के चरित्र भुवनेश्वर के आत्म तथा आनात्म संघर्ष के लिए बेहतरीन नाटकीय स्थिति की सर्जना करते हैं।

•

पश्चिमी उपन्यास : कुछ नोट्स *

1. करीब तमाम यूरोपी भाषाओं में उपन्यास उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में विशेषकर सातवें–आठवें दशक में उन 'दर्शनों' या उस दार्शनिक रुझान' को बड़ी तेज़ी से छोड़ने लगा था जो उसके लिए तथाकथित जीवन दृष्टि तय करते रहे थे। कविता की स्थिति और तरह की थी । कविता ने जागृत दृश्य जीवन की अपेक्षा रचना जगत ही से अपनी वस्तु लेनी शुरू की थी। यह कविता में प्रतीकों के रूप में आ रही थी । उपन्यासकार निरे यथार्थ की ओर ज़्यादा झुकने लगे थे, यद्यपि कविता को प्रभावित करने वाला साहित्यिक वातावरण उनको भी आंशिक रूप से प्रभावित करने लगा था। समकालीन जीवन की समझ के बाहर की कुछ मूलभूत अनिवार्यताएं थी जो उन्नीसवीं सदी के साम्राज्य संस्थापक यूरोपी देशों को भी अछूती नहीं छोड सकीं और इनमें समाज के संघटन और विघटन सम्बन्धी विचारधाराएं प्रमुख थी। इन से न केवल तत्कालीन यूरोपी मानसिकता प्रभावित थी बल्कि सामान्य जीवन भी आन्दोलित हो रहा था। इसका परिणाम यह हुआ कि उपन्यासकार मात्र आधारभूत मानवीय सम्बन्धों के चित्रण से ऊपर उठकर सामाजिक सिद्धान्तों और अर्धकाव्यात्मक जीवन स्थितियों और चरित्रों को भी विषयवस्तु बनाने लगे।

आधुनिक उपन्यास की वैचारिक पृष्ठभूमि समझने के लिए उन्नीसवीं सदी में स्थापित तथा प्रचलित कुछ साहित्यिक और दार्शनिक सिद्धान्तों को समझना ज़रूरी है।

* ये नोट्स 1960–65 तक के पश्चिमी उपन्यास का अध्ययन करते हुए अंग्रेज़ी की कुछ सम्बद्ध पुस्तकों के आधार पर बनाए गए हैं, और कोई नवीन उद्भावना करने या नई व्याख्या करने की दृष्टि से एकत्रित नहीं किए गए हैं, अतएव संदर्भ संकेतों से मुक्त है ।

2. आर्थर शोपेन हॉवर (1788—1860) इच्छा को संसार की नियामक शक्ति मानते थे। उस समय स्थिति यह थी कि करीब आधी सदी पूर्व के प्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक रूसो (1712—78) द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्रता/निरपेक्ष स्वतन्त्रता' की लोकप्रिय धारणा और तात्कालिक भौतिक प्रगति के बीच विरोध प्रमुखता के साथ नज़र आने लगे थे और चिन्तनशील मानस एक प्रकार की निराशा में डूबने लगा था कि शायद भौतिक वैभव को अस्वीकृत करने में ही निस्तार है। फेडरिक नीत्शे (1844—1900) ने ईसाई चिन्तन क्रम को अस्वीकृत करके 'अतिमानस' की विद्रोही और नवीन परिकल्पना को प्रतिपादित किया। यह परिकल्पना उस समय की यूरोपी और उत्तरी अमरीकी सभ्यता के भोंडेपन पर चोट थी पर उससे ज़्यादा यह प्रातिभ ज्ञान (इंट्यूशन) को बुद्धिवादिता से अधिक महत्त्वपूर्ण बताने के कारण सर्वत्र ध्यान का केन्द्र बनी । हेनरी बर्ग्सां (1850—1941) की 'इलां वाइतल' वाली विचार धारा से प्रेरित होकर उपन्यासकारों ने मनुष्य की सर्वव्यापी शक्ति को उजागर करना शुरू किया, जिसके फलस्वरूप वह असामान्य चमत्कार करने को सक्षम है।

3. पश्चिमी आकाश पटल पर जब ये नवीन से नवीनतर उद्‌भावनाएं उल्कापिंडों की तरह चमकने लगीं तो पश्चिमी मूल के कुछ भारतिवद् और भारतप्रभावित व्यक्तित्वों ने कुछ प्राचीन भारतीय विश्वासों तथा चिन्तन परम्पराओं को यूरोप में प्रचारित किया। इनमें मादाम बालवत्सकी का अध्यात्मवाद विशेष महत्व रखता है। दूसरी ओर कुछ अर्धनास्तिक मनोवैज्ञानिक धारणाएं प्रतिपादित हुईं जिनमें सिगमंड फ्राइड की मानवमन की व्याख्या प्रमुख है। इस व्याख्या में आधुनिक धर्महीन मनुष्य को स्थापित किया गया था । उपन्यास रचना पर इसका यह प्रभाव पड़ा कि निरी कथा कहने की प्रवृत्ति बाधित हुई बल्कि घटनाओं के सतही अर्थों तथा चरित्रों के दृश्यमान रूपों के भीतर और पीछे देखने की प्रवृत्ति बढ़ी । उन्नीसवीं सदी मे इस सब से युगांतकारी परिवर्तन आए जिनसे न केवल कथ्य बल्कि उपन्यसकला भी प्रभावित हुई ।

चार्ल्स डिकेन्स और इमाइल ज़ोला के सूक्ष्म समाजालोचन बालज़क की समाज और इतिहास की व्याख्या (न केवल वर्णन) लियो टालस्टाय को इतिहास तथा मानव नियति की अन्तर्क्रिया, दास्ताएवस्की की चरित्रों की इतनी भावप्रवणता कि टूटने लगें, यद्यपि स्थाई सत्यों के प्रतीक हों आदि आदि ऐसे तत्त्व थे जे उपन्यास में समा कर उसके पारम्परिक शास्त्रीय रूप को टूटने की हद तक ताननें लगे । परिणामस्वरूप उपन्यासकार मानवीय अनुभव के नए क्षेत्रों के सर्वेक्षण में जुट

गया।

4. उपर्युक्त वैचारिक और साहित्यिक प्रेरणा से जो परिवर्तन उपन्यास में हुए उनका पहला प्रस्फुटन फ्रांस में हुआ । अनातोले फ्रांस अपने समय का व्यंग्यात्मक व्याख्याता था, जिसने इतिहास के दर्पण में केवल उन चित्रों को देखा जिनसे उसके समकालीन परिवेश पर कोई प्रकाश पड़ता था। उसके 'थाया' और 'पेंग्वीन द्वीप' दोनों उपन्यासों में उसकी मानवतावादी दृष्टि तथा अपने समय के सरोकार स्पष्ट झलकते हैं। रोम्यां रोलां ने मरीज़ समाज का अनावरण करने के बजाय स्वस्थ समाज की स्थापना की ओर संकेत किये । उसकी सोच कितनी उदार थी, यह उसकी तालस्ताय तथा गांधी की जीवनियों से जाना जा सकता है। फ्रांस्वा मोरिया ने अनातोले फ्रांस की तरह पुण्य और पाप की शाश्वत समस्या का समकालीन समाधार ढूंढना चाहा । ज्यां पाल सार्त्र ने अर्धदार्शनिक पृष्टभूमि जर्मनी से पाई थी जिसके बल पर नवीन विचारों का प्रतिपादन कर उसने युद्धोत्तर योरोप में क्रांति उपस्थित की । रूप की दृष्टि से उसके उपन्यास सीमित समकालीन क्षण के अरूप आयाम का बड़ा ही वर्णनात्मक वृत्त उपस्थित करते हैं। आल्बेयर कामू ने अपने उपन्यासों 'महामारी' ' सिसेफस का मिथक' और 'अजनबी ' में एक तरह से सार्त्र के ही अस्तित्ववादी सिद्धान्त का विस्तार किया जो विद्रोही अस्तित्ववाद कहलाया।

5. शोपेनहॉवर ने किसी हद तक और कुछ समय के लिए जर्मन भाषा में उपन्यास लेखन की दशा और दिशा निश्चित कर दी । शोपेन हॉवर का दर्शन पूर्वाभिमुख था और इस प्रवृत्ति का प्रभाव स्वीकार करते हुए कुछ उपन्यासकारों ने विज्ञान की बदौलत पश्चिमी दुनिया में आने वाले परिवर्तनों और तथाकथित आधुनिकता के नए उत्थान को भाषा दी । इनमें हर्मन ह्यस और टामस मान उल्लेखनीय थे। मान ने कला की अति को सामाजिक और राजनीतिक अवनति की युगीन अभिव्यक्ति कहा, पर साथ ही इसे साहित्यकार के लिए आकर्षक माना। उसके उपन्यासों के कथानक प्रेम की विकृतियों, इतालवी फासिज़्म के फैलते कीटाणुओं तथा समाज के आखिरी शरणस्थलों यानी सैनिटोरियमों की महत्ता आदि विषयों पर आधारित हैं । इसी सूत्र को आगे बढ़ाते हुए फ्रांज़ काफ़का ने बीसवीं सदी के अवरुद्ध मानव में घर करने वाली पराजय और निराशा को अपने उपन्यासों में स्वर दिया। उसने हठात अकेले पड़ने वाले मनुष्य के ऐसे दुस्स्वप्न का चित्रण किया, जो उसे किसी अनायास विनाश की ओर ले जा रहा है। काफका की डायरी के आधार पर कहा जाता है कि ये दुस्स्वप्न उसकी व्यक्तिगत भीति

से निसृत थे पर बात यहीं खत्म नहीं हो जाती । इनका और भी अर्थ है।

6. रूसी उपन्यास के संदर्भ में अन्तन चेखव का कथाशिल्प को योगदान उल्लेखनीय है यद्यपि वह नाटककार और कहानीकार के रूप में ही पहचाना जाता है। बीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों में इवान ब्रूनिन और इवान कूपरिन और अलेक्सेइ ऐजिज़ोव जैसे उपन्यासकारों के नाम आते हैं, जिन्होंने समाज में तेज़ हो रहे ऊहापोह के वातारण में पूर्वस्मृतियों को उजागर करके कुछ अच्छे उपन्यासों की रचना की । इनमें ज़ार के ज़ुल्मों की पृष्टभूमि में शुद्ध मानव–भावनाओं का चित्रण किया गया । आगे चलकर रूस की समाजवादी क्रान्ति को वैचारिक और राजनीतिक समर्थन देने वाले उपन्यासकारों की एक पूरी श्रृंखला जुट गई। इनमें मैक्सिम गोर्की सबसे ज़्यादा प्रभावशाली लेखक थे, जिनकी रचनाओं में ज़ारा धीनता से समाजवादी क्रान्ति तक के रूसी जीवन का प्रतिबद्धता सम्पन्न परन्तु समर्थ चित्रण हुआ । उपन्यास से ज़्यादा गोर्की की कला उसकी 'आत्मकथा त्रय' में निखरी । गोर्की का सामाजिक यथार्थ नई समाजवादी व्यवस्था की साहित्यिक व्याख्या में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ । इस व्याख्या को तत्कालीन सोवियत रूस की रूसी–इतर भाषाओं में अपने लेखन से परिपुष्ट करने वालों में चेंगिज़ आइत्मतोव का नाम प्रमुख है । रूसी में लियोनिद लियोनोफ़ और माइखेल शोलोखोफ़ के उपन्यासों में यद्यपि राजनीतिक प्रतिबद्धता का बाहरी चौखटा स्वीकृत किया गया पर शुद्ध मानवीय सरोकारों को कलाकारिता के साथ पर्याप्त उभारा गया। सोवियत ढांचे के भीतरी अन्तर्विरोधों को ऊपरी सतह पर लाकर मनुष्य की नियति को अनुकूलित करने के राजनीतिक प्रयासों की अस्वीकृति के लिए भूमि तैयार की दो तथाकथित विद्रोही रूसी उपन्यासक़ारों बोरिस पास्तरनाक तथा अलेक्सेंद्र साल्ज़नित्सिन ने। इन दो के उपन्यासों क्रमशः 'डॉ0 जिवागो' और 'गुलाग' 'द्वीपकुंज' ने सोवियत प्रणाली में पाए जाने वाली निषेध और रद्द की विचारधारा को स्वर दिया ।

7. बीसवीं शती के आरम्भिक दशकों के अंग्रेज़ी उपन्यासों के बारे में आलोचकों मं यह राय ज़ोर पकड़ने लगी कि उपन्यास का ह्रास हो रहा है। यह भी सत्य था । इनमें हेनरी जेम्स, जोज़ेफ कॉनराड, ई0 एम0 फारेस्टर, डी0 एच0 लारेंस, जेम्स ज्वाइस और वर्जीनिया वूल्फ जैसे प्रसिद्ध उपन्यासकारों के नाम गिने जा सकते हैं। एक आलोचक ने युद्धोत्तर उपन्यासकारों को चार वर्गों में विभक्त किया है – 1. दो विश्वयुद्धों की मध्यावधि के उपन्यासकार जो पहले से ही नाम पा चुके थे, 2. इस अवधि के सफल उपन्यासकार, 3. तथाकथित 'क्षुब्ध नवयुवक'

लेखक, 4. उपर्युक्त वर्गों के बाहर के उपन्यासकार । पहले वर्ग में चार्ल्स मार्गन, रेक्स वार्नन आदि थे। क्रिस्टोफर इशरवुड ने बर्बादियों के सशक्त वर्णनों द्वारा अपने लिए अलग स्थान बनाया। एवलिन वॉग और विंडहाम लेविस ने इस अवधि में उपजी हताशा का प्रभावशाली वर्णन किया । दूसरे वर्ग के नए नामों में आइवी क्राम्पटन बर्नेट का नाम इस कारण प्रमुख है कि उसने सामान्य चरित्रों की अपेक्षा उपन्यासों में अतिनाटकीय अंशों को ज़्यादा स्थान दिया, जिससे उसे शैलीकार भी माना गया। कभी आइवी की तुलना, उसकी मानवमूल्यों की चित्रण शक्ति के कारण जेन ऑस्टेन से की जाती है। जेन ने 1910 ई0 से पूर्व के मध्य वर्ग को अपने उपन्यासों की वस्तु के रूप मं चुना । एल पी हार्टले आइवी जैसा मौलिक लेखक नहीं था। उसने हेनरी जेम्स की शैली अपनाई। इस वर्ग के उपन्यासकारों ने अपने समसामयिक संसार को अपना विषय नहीं बनाया । इस दृष्टि से सही मानों में आधुनिकता की चेतना इनमें कम थी। इनका लेखन युद्ध से ऊपर नहीं उठता । तीसरे वर्ग के 'क्षुब्ध नवयुवकों' में जॉन ऑस्बार्न का नाम सर्वप्रथम है। इस दृष्टि विशेष का आरम्भ उसके उपन्यास 'क्षुब्ध दृष्टिक्षेप' के बाद केनेथ आलिसप के 'क्षुब्ध दशक' के प्रकाशन से हुआ जिसमें 1940–50 के दशक की युवक पीढ़ी के विद्रोह को स्वर मिला, जो उन्होंने संस्कृति के परम्परा पुष्ट प्रतिमानों के खिलाफ़ प्रकट किया। यह विद्रोह था जो लारेंस के असन्तोष और अठारहवीं सदी के व्यंगकार पोप की जैसी क्षुब्ध असन्तुष्टि से सर्वथा भिन्न था । इसके द्वारा वास्तव में युद्धोत्तर बुद्धिजीवियों के सामने पैदा हुए सांस्कृतिक संकट को स्वर दिया गया था ।

चौथे वर्ग के उपन्यासकारों लारेंस डरेल और एंगस विल्सन में पूर्ववर्ती आल्डस हक्सले, मॉन आदि का सममिश्रित प्रभाव भी देखने को मिलता है पर साथ ही तीव्र समकालीन चेतना भी मिलती है। इससे इनमें व्यंग्य को एक सशक्त उपकरण की तरह इस्तेमाल किया जाता है।

बीसवीं शती के पांचवे छठे दशक के आधुनिक अंग्रेज़ी उपन्यास की स्थिति की तुलना पिछली सदी और इस सदी के आरम्भिक वर्षो की उपन्यास संपत्ति से करने पर यह निस्सन्देह क्षीण और न्यून लगता है, फिर भी कुछ आलोचकों का यह मत कि ये वस्तुतः कलाकृति की दृष्टि से उपन्यास की मृत्यु के लक्षण हैं, ज़्यादती ही कहला सकता है।

•

जम्मू कश्मीर में हिन्दी गद्य : आरम्भ और उत्थान

1. यदि गद्य कवियों का निकष है तो मातृभाषा को छोड़ कर अन्य भाषा में लिखा जाने वाला गद्य कवियों के लिए विकट निकष है। सूक्तिकार ने गद्य रचना की इस विकट स्थिति की ओर ध्यान नहीं दिया है। संस्कृत युग में आचार्यों तथा वैयाकरणों ने लक्षणों परिभाषाओं तथा प्रयोगों का ऐसा सकरा रास्ता निर्मित किया था जिस से होकर कोई अन्य भाषी लेखक इस प्राप्त भाषा (संस्कृत) को आप्त भाषा बनाने में सफल हो जाता था। इसलिए उपर्युक्त विकट स्थिति का प्रश्न तब उठा नहीं । काव्य के गुण दोष का विवेचन करते हुए उन्होंने प्राप्त और अपाप्त मुहावरे या अभिव्यक्ति पर बहस नहीं की । विभिन्न रीतियों से अभिव्यक्ति की विभिन्न शैलियों का अस्तित्व स्वीकार किया गया, टीकाओं और भाष्यों में पर्वतीय, पूर्वी, पश्विमी, मैदानी, जनजातीय या लोक प्रयोगों में भाषा अभिव्यक्त तथा उक्ति के पाठांतर की ओर संकेत किए गए, पर कुल मिला कर अभिव्यवित्त के भौगोलिक संस्करणों को भी मान्यता दी गई । मातृभाषा में तथा मातृ भाषेतर लेखन की समस्याओं पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया । जम्मू कश्मीर राज्य के हिन्दी लेखन का सामान्य प्रश्न इस समस्या के विशालतर पक्ष से जुडा हुआ है और इस दृष्टि से कम चर्चित हुआ है।

2. जम्मू–कश्मीर में हिन्दी लेखन के पहले पहले उपक्रम बेशक आज से एक दो सदी पूर्व में मिलते हैं। कश्मीर में रूपाभवानी, कृष्ण जू राज़दान और परमानन्द तथा जम्मू में दत्त कवि ने भक्त कवियों की देशव्यापी लोकप्रियता से प्रभावित होकर ब्रज में या ब्रजप्राय खड़ी हिन्दी में कुछ काव्य रचना की । उसके बाद छुट पुट हिन्दी लेखन भक्तिविभोर क्षणों में होता रहा । पर हिन्दी की व्यापकता, इस भाषा से शेष भारतीय मनीषा से सम्पृक्त बने रहने और राष्ट्रवाद

के लोकचिन्तन का भाग बनने के साथ ही यहां इस भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने के सचेत प्रयास होने लगे। ऐसो प्रयासों का इतिहास इस शती के चौथे पांचवे दशक के पहले का नहीं। उस समय गद्यकारों को जो प्रेरणायें या पठन–पाठन सामग्री उपलब्ध होती वह शुद्ध साहित्यिक न होकर सामाजिक या राष्ट्रीय समस्याओं के साथ उनकी संसक्ति का परिणाम थीं। अधिकांश लेखक फारसी उर्दू या अंग्रेज़ी परम्परा में पढ़े–पनपे थे । हिन्दी का प्रचार प्रसार जनान्दोलन और राष्ट्रवादी विचारधारा के प्रचार प्रसार का प्रभावी साधन था। यह भी सच है कि हिन्दी प्रदेश में नवीन साहित्य धाराओं से भक्त कवियों तथा कविता का आलोचनात्मक अध्ययन संशोधन होता जबकि अहिन्दी प्रदेशों में ऐसा नहीं हुआ । यहां भी ऐसा हुआ, पर स्थानीय मातृभाषाओं के काव्य के संदर्भ में ही। हिन्दी की भक्ति कविता यहां के आलोचक के लिए भी केवल ग्रहण और आत्मसातीकरण की वस्तु रही, इस कविता की प्रभविष्णुता के सामने उसकी आलोचक दृष्टि कोई मीनमेख निकालने की स्थिति में नहीं थी । यह कविता साहित्य से ज़्यादा जीवनयापन का एक मार्ग थीा, एक दिशा दृष्टि थी। उर्दू फारसी अंग्रेज़ी भी स्थानीय लेखकों के लिए मातृभाषा का विकल्प नहीं थी पर एक तो इन भाषाओं को राजनीति तथा रोज़गार से जोड़ा जाकर इनका पठन –पाठन अनिवार्य कर दिया गया था दूसरे इन भाषाओं में चमत्कार (एक्ज़ाटिक) आकर्षण था। इनमें स्थानीय लेखक विद्वत्ता प्राप्त करना चाहता था और अस प्रक्रिया में इन्हें किसी हद तक मौलिक लेखन के लिए माध्यम स्वरूप अपनाया गया। पर हिन्दी में मातृभाषा की तरह देशी ज़मीन की सोंधी गंध तथा ज़मीन के अनुभूति–स्पर्शी सरोकार थे। इस स्पर्श तथा गद्य को सांस में बसाने तथा इनसे जीवन की ऊर्जा ग्रहण करके ही सन्तोष पाया जा सकता था। यह भी एक कारण रहा स्थानीय लेखकों का हिन्दी में चिन्तन तथा गम्भीर गद्य लेखन के प्रति उत्साह न होने का।

कबीर और सूर की कविता का महनीय प्रभाव एक और दृष्टि से भी यहां के हिन्दी लेखक के मौलिक और सचेत लेखन में सहायक नहीं रहा । ये कवि स्थानीय लेखक के निसर्ग को छूते थे पर उसकी दृष्टि को अनुकूलित भी करते थे। भक्ति की दृष्टि ऊहा–पोह ग्रस्त जीवन के लिए मरहम उपलब्ध करा सकती थी, समकाल को देखने की चेतना पैदा नहीं कर सकती थी। स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान हिन्दी का भावुक प्यार भी इसी कोटि का था। दूसरे, नगरों से निकलने वाली पत्र पत्रिकाओं या इस प्रदेश के इस प्रकार के प्रकाशनों में छपी हिन्दी कविता और गद्य की रचनाएं आवेश का परिणाम ज़्यादा हैं, अनुभूत चिन्तन या अनायास प्रतिभा का परिणाम कम । जीवन के स्थाई पक्ष की समझ और व्याख्या

तो दूर, तत्कालीन राजनीति पर भी हिन्दी गद्य में कोई गम्भीर रचना नहीं हुई । भावना को सही भाषा देने में लेखक के सामर्थ्य की परीक्षा होती है और असमर्थता की दशा में अस्पष्टता आती है या कमज़ोर अभिव्यक्ति होती है। ऐसे में रूढ़ घिसी पिटी तथा अर्थशून्य शब्दावली का सहारा लिया जाता है तथ सुनी सुनाई बात को सुने सुनाए शब्द में कहने की रीत चल पड़ती है। मौलिक चिन्तन की प्रवृत्ति पैदा नहीं होती और रचनात्मक गद्य के बदले अपरिपक्व पद रचना सुसाध्य हो जाती है।

3. जम्मू कश्मीर में गद्य लेखन की विकास यात्रा की एक विशेषता यह है कि नई पीढ़ियां समकालीन बुजुर्ग पीढ़ियों की अपेक्षा लगातार गद्य चेतन रहीं हैं । इसका कारण था हिन्दी का शिक्षा तथा दूसरे सम्बद्ध क्षेत्रों में व्याप्त हो जाना और प्रचार माध्यमों के लिए प्रभावी साधन बन जाना । पुरानी पीढ़ी पर भी इस परिवर्तन का असर हुआ और हिन्दी के प्रति उनके भावुक प्यार में कमी आती गई। हिन्दी उनके लिए केवल भक्ति धर्म भावना की अभिव्यक्ति का वाहन नहीं बल्कि ठोस जागतिक (मंडेन) समस्याओं पर सोच विचार का वाहन होनी लगी । नई पीढ़ियाँ बुजुर्गो के आग्रह से मुक्ति के वातावरण में पनपने लगीं । रचनात्मकता किसी भी जाति के सांस्कृतिक व्यक्तित्व में मौजूद होती है और इस प्रदेश में भी उतनी ही रही होगी जितना इसका व्यक्तित्व सम्पन्न था। पर वातावरण के उपयुक्त होने तथा प्रोत्साहन की आशा से व्यक्तित्व के प्रधान गुण प्रकट हो जाते हैं। यहां की नई प्रतिभा तथा रचना क्षमता के उत्तरोतर विकास के मूल में प्रदेश में तथा देश में हो रहे साहित्यिक परिवर्तनों की अनुकूलता थी। पुरानी पीढ़ियों की अपेद्गा नई पीढियों ने इसी कारण अधिक मौलिक रचना की । यह बात यद्यपि गद्य तथा पद्य दोनों की रचना पर लागू होती है पर यह सत्य हम भूल नहीं सकते कि इस देश की किसी भी भाषा में, किसी भीरचना केन्द्र में काव्य, गद्य से पहले जन्मा और विकसित हुआ । जम्मू कश्मीर की मातृ–भाषाओं के साहित्य के साथ भी यही हुआ ओर यहां रचे गए हिन्दी साहित्य को हम अपवाद के रूप में देख नहीं सकते।

4. नई पीढ़ियों ने हिन्दी को सायास प्राप्त करके फिर इसे सहज बनाने का सचेत प्रयत्न किया है। हिन्दी को प्यार करने वाली समकालीन पुरानी पीढ़ियों ने अपनी मातृभाषाओं (कश्मीरी/डोगरी) में विशेष रचना नहीं की पर नई पीढ़ियों के लेखकों में से अधिकांश ने हिन्दी और मातृतभाष में विरोध न मानते हुए दोनों में रचना की । जम्मू में कई लेखकों ने हिन्दी में शुरू करके फिर डोगरी में पदार्पण किया, यद्यपि वे हिन्दी के उन्नत लेखन से प्रेरणा प्राप्त करते रहे। कश्मीर में कइयों

ने कश्मीरी से शुरू करके फिर हिन्दी में लिखा । मातृभाषा तथा हिन्दी के बीच अविरोध की बुनियादी स्थिति से ही यह आवागमन सम्भव हुआ है। इस प्रसंग मे कुछ लेखकों तथा संस्थाओं की ओर से इन भाषाओं के बीच दूरी याविरोध को अनावश्यक महत्व दिया गया तथा कुछ हिन्दी लेखक कश्मीरी/डोगरी को अभिव्यक्ति का अपर्याप्त साधन मानने लगे। यह स्थिति अवांछित है तथा साहित्यिक उपक्रम के त्रुटिपूर्ण आकलन से पैदा होती है। इसके पीछे एक कारण यह भी है कि हिन्दी की गद्य रचना का 300 वर्ष का इतिहास है, जबकि इन प्रादेशिक भाषाओं में यह विधा एक स्वातन्त्र्योत्तर घटना के रूप में उद्भुत हुई । हिन्दी गद्य को अर्जित करना अपेक्षाकृत श्रमसाध्य है, क्योंकि सही हिन्दी बोलचाल में प्रवीणता प्राप्त करना भी सरल नहीं। मातृभाषा में बोलते हुए उसमें गद्य रचना साधारण लगती है। श्रमसाध्य दिशा में आकर्षण होता है, भले ही उसमें गद्य लिख पाने की प्रक्रिया मातृभाषा की अपेक्षा दुस्साध्य हो। रचनात्मकता प्रतिभा अभिवृत्ति और श्रम तीनों का परिणाम है। भाषा पर अधिकार रचना की पहली शर्त है। मातृभाषा का प्रयोग करने मात्र से हम उसकी रचना करने के योग्य नहीं हो जाते। इस तथ्य को मामूली मानकर रद्द नहीं किया जा सकता क्योंकि गद्य केवल बोलचाल नहीं। यही कारण है कि प्रदेश में गद्य की विभिन्न विधाओं में ज़्यादा मौलिक रचना नहीं हुई। संख्या में भी कहानीकार नाटककार कम हैं, निबन्धकार तो और भी कम हैं।

5. निबन्ध और आलोचना गद्य लेखन में परिपक्वता का परिणाम होती है। प्रदेश में निबन्ध के नाम पर अधिकतर पाठ्यपुस्तकीय ओलाचना लिखी गई। इस विधा के लेखकों ने एक तो पारम्परिक लेखन का दबाव झेला दूसरे शायद हिन्दी का मौलिक निबन्ध इनको उपलब्ध नहीं था। हिन्दी की पाठ्यपुस्के, जिन्हें पढ़कर इन्होंने स्वयं लिखने की प्रेरणा पाई, अब भले ही भाषा बोध के स्तर को दृष्टि में रखकर संकलित की जाती हों, आज से पचास वर्ष पहले केवल तथाकथित निरपेक्ष साहित्यिक सौन्दर्य के लिहाज़ से निर्मित होती थी । मुख्यतः शब्दावली की कठिनता के स्तर की दृष्टि से उन्हें भिन्न-भिन्न श्रेणियों के विद्यार्थियों के लिए सम्पादित किया जाता था। स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी में पाठ्यसामग्री के चयन तथा सम्पादन की चेतना जगी तो इस प्रदेश में भी ऐसी पाठ्यपुस्तकें उपलब्ण होने लगीं जो रचनाकार में मौलिकता जगाने में सहायक हुईं । फिर भी बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त या उस खेवे के निबन्धकारों की सी प्रतिभा का उदय भी यहां नहीं हुआ। बहुत हुआ तो स्थानीय इतिहास तथा भाषा सम्बन्धी निबन्ध लिखे गए जो अपनी भाषा के कारण नहीं अपितु इन विषयों से सम्बन्ध सूचना के कारण महत्व

रखते हैं। प्रो0 पृथ्वीनाथ पुष्प, प्रो0 रामनाथ शास्त्री, प्रो0 विष्णुदत्त शास्त्री तथा प्रो0 बलजिनाथ पण्डित के आरम्भिक निबन्ध इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। ये निबन्ध कश्मीर की दार्शनिक तथा साहित्यिक परम्परा के पुनर्मूल्यांकन तथा जम्मू की सांस्कृतिक चेतना के उदय की दृष्टि से महत्वपूर्ण सूचनाओं तथा चिन्तन प्रवृत्तियों का संकेत करते हैं।

6. मौलिक रचनात्मक निबन्ध के अभाव में प्रादेशिक संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर लिखे गए लेखों का महत्व बढ़ जाता है। यह लेखन यहां के लेखक को अपने परिवेश के जुड जाने की ललक से प्रेरित हुआ। हिन्दी के मुख्य राष्ट्रभाषा तथा भावी राजभाषा मान्य होने तथा देश की संस्कृति के प्रमुख वाहन के रूप में उभरने से इस भाषा में प्रादेशिक संस्कृतियों पर लिखने की प्रवृत्ति करीब हर अहिन्दी प्रदेश में उत्पन्न हुई । भूगोल तथा इतिहास की विविधताओं के बीच सांझे मानवीय सूत्रों की खोज और स्थापना के प्रयास हर कहीं होने लगे। इन प्रयासों की राजनीतिक अनुगूंज 'अनेकता में एकता' के नारे में सुनाई देने लगी । हिन्दी के माध्यम से जम्मू कश्मीर का राष्ट्रचेतन लेखक अपने प्रदेश के सांस्कृतिक व्यक्तित्व का रेखांकन करते हुए वस्तुतः इसे व्यापकतर भारतीय संस्कृति से जोड़ने के प्रति उत्सुकता का प्रदर्शन कर रहा था। कश्मीर का संस्कृत साहित्य, इतिहास–लेखन, शैवदर्शन, भक्ति तथा सूफी साहित्य (जिसका माध्यम कश्मीरी था) जम्मू की चित्रकला, विशालतर जम्मू की लोक संस्कृति, जम्मू में हिन्दी रचना तथा डुग्गर चेतना के उदय सम्बन्धी लेख इस संदर्भ में महत्वपूर्ण हैं । सर्वश्री विष्णुदत्त शास्त्री, गंगादत्त 'विनोद', नीलकण्ठ गुर्टू, बलजिन्नाथ पंडित, बद्रीनाथ कल्ला आदि के कश्मीर शैवदर्शन पर लिखे लेख, काशीनाथ दर के बिल्हन तथा हब्बाखातून पर लिखे हुए लेख, विभिन्न प्रादेशिक कला–शिल्प तथा लोकसंस्कृति पर रामनाथ शास्त्री, ओमप्रकाश गुप्त, ओम गोस्वामी, प्रियतमकृष्ण कौल, चमनलाल सप्रू, त्रिलोकीनाथ गंजू, निज़ामुद्दीन, अनिल गोपाल, अवतार कृष्ण राज़दान, देवरत्न शास्त्री, भूषणलाल कौल, सत्पाल शास्त्री आदि के लेख इस दृष्टि से महत्व रखते हैं।

7. हिन्दी साहित्य सम्बन्धी आलोचनात्मक लेखों में किसी मौलिक उद्भावना का न होना अस्थानीय नहीं है। जब विषय प्रदेश से बाहर रचित हिन्दी साहित्य हो तो मौलिकता का अभाव और प्रमुख हो उठता है। प्रदेश के हिन्दी लेखकों का भी सन्तोषप्रद मूल्यांकन नही हुआ है। जो लिखा गया वह परिपाटी बद्ध और पारम्परिक संस्कृतनिष्ठ दृष्टि से बंधा है। इस सम्बन्ध में 'आकलन और समीक्षा

मतिमंमथन (गंगादत विनोद) और संतूर के स्वर (चमनलाल सप्रू) के उदाहरण लिए जा सकते हैं। इनमें आई आलोचना किसी मौलिक दृष्टि या सबल गद्य का नमूना पेश नहीं करती । ये लेखक हिन्दी के तत्कालीन साहित्यिक दृष्टि से न्यून महत्व के लेखकों गुलाबराय या बनारसी दास चतुर्वेदी के साथ भी तुलनीय नहीं। उसके मुकाबले में प्रदेश के हिन्दी लेखन पर लिखे गए निबन्ध, निबन्धकार की श्रमसाध्यता और गवेषणा–प्रवृत्ति का कुछ प्रदर्शन करते हैं। इस लेखन पर सहायक सामग्री न होने के कारण निबन्धकार के लिए स्वतन्त्र चिन्तन अनिवार्य था। साथ ही इस प्रकार के लेखन के हिन्दी प्रदेश में पढ़े जाने और चर्चित होने की ज़्यादा सम्भावना थी इसलिए निबन्धकारों ने अपने मुहावरे में परिनिष्ठित भाषा की सम्प्रेषणीयता उत्पन्न करने का सतत प्रयास किया। सर्वश्री चमनलाल सप्रू (कश्मीर घाटी में हिन्दी के पच्चीस वर्ष) नीलम खोसला (नरेश मेहता के एकांकी) ओम्प्रकाश गुप्त (जम्मू कश्मीर में हिन्दी साहित्य की नई प्रवृत्तियां, कविता जो साक्षी है) बद्रुन्निसा प्रभाकर (कश्मीर में हिन्दी का सृजनात्मक साहित्य) सुभाष भारद्वाज(जम्मू की हिन्दी कविता और स्तरीयता का प्रश्न) गंगादत शास्त्री (जम्मू प्रदेश में हिन्दी तथा साहित्य का वह अतीत युग) निज़ामुद्दीन (कश्मीर के समसामयिक हिन्दी कवि) इस संदर्भ में महत्व रखते हैं। इसी वर्ग में प्रदेश के हिन्दी लेखकों की पुस्तकों की समीक्षाएं रखी जा सकती हैं।

8. स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अहिन्दी भाषी हिन्दी लेखकों के सामने बहुविध चुनौतियां उठ खडी हुईं । प्रकाशन सुविधाओं की कमी तथा राष्ट्रीय पत्र–पत्रिकाओं तक पहुँच न पाने से उनकी रचना प्रवणता नहीं तो उनका रचना–उत्साह जरूर प्रभावित हुआ। यहां के सीमित और किसी हद तक प्रतिकूल वातावरण को भेद कर जो हिन्दी प्रदेश में भी मान्यता प्राप्त कर सके उनकी प्रतिभा तथा कर्मठता दोनों प्रशंसनीय हैं। ये चुनोतियाँ एकदम साहित्यिक या रचनापरक नहीं । रचनात्मक स्तर पर सबसे बड़ी चुनौती यह है कि जम्मू कश्मीर के हिन्दी लेखक को रचनात्मक लेखन के अलावा प्रदेश में हो रहे सांस्कृतिक नवजागरण का व्याख्याता तथा प्रादेशिक भाषाओं के लेखन का अनुवादक भी होना पड़ता है। अनुवाद कर्म से यदि रचनाकर्म प्रभावित हो जाए तो अस्वाभाविक नहीं।

9. कहानी सीधे अनुभव की जितनी सीधी अभिव्यक्ति हो उतनी सफल होती है। पर सीधी अभिव्यक्ति कहने में जितनी सरल है, उतनी करने में नहीं। वस्तुतः सीधी अभिव्यक्ति भाषा पर अधिकार और शिल्पचेतना से ही आ सकती है। प्रदेश में 1950 के बाद की लेखकों की पीढ़ियाँ भाषा के उपयुक्त मुहावरे तथा

शिल्प के प्रति ज़्यादा चेतन थीं। हिन्दी के अन्य रचना केन्द्रों जैसे दिल्ली, लखनऊ, इलाहबाद, जयपुर, भोपाल से लेखकों का भौतिक तथा मानसिक सम्पर्क घना होता गया। पहले प्रेमचन्द कौशिक गुलेरी की कहानियां यहां पढ़ने को मिलती थीं, अब अश्क, यशपाल, जैनेन्द्र की कहानियाँ भी पाठ्यपुस्तकों में सम्मिलित की जाने लगीं तथा पत्र पत्रिकाओं में उपलब्ध होती गईं। कहानी लेखन का वरण करने वाले लेखक कवियों की अपेक्षा कम थे, पर जो भी थे वे इस छोटी आयु की विधा (कहानी) में परिश्रम तथा अध्ययन के बाद ही कलम चलाने लगे। उस समय के कहानीकारों में धर्मचन्द प्रशान्त, वेद राही, नरेन्द्र खजूरिया, हरिकृष्ण कौल, ओमप्रकाश गुप्त, ज्योतीश्वर पथिक, ओम गोस्वामी छत्रपाल और जवाहरलाल कौल के नाम गिने जा सकते हैं। यद्यपि इनमें से कुछ आगे चलकर कविता या पत्रकारिता के क्षेत्र में चले गए, कुछ कहानी लेखन से ही जुड़े रहे और कहानी की भाषा तथा शिल्प के प्रति ज़्यादा से ज़्यादा चेतन होते गए । कुछ ने पहले मातृभाषा में कहानी लिखी तथा बाद में हिन्दी में आए, पर उससे उनकी कहानी की गुणात्मकता में कोई अन्तर नहीं आया क्योंकि हिन्दी को इन रचनात्मक कहानीकारों ने आलोचनात्मक दृष्टि से अपनाया। कुछ कहानीकारों ने अपनी कश्मीरी या डोगरी कहानियों को स्वयं हिन्दी में अनूदित किया और हिन्दी पर यथेष्ट अधिकार होने के कारण उनमें यथावश्यक परिवर्तन किया, जिससे वे कहानियां अनुवाद न रहकर मूल हिन्दी कहानियों का सा स्वरूप प्राप्त कर सकी हैं। नरेद्र खजूरिया, हरिकृष्ण कौल तथा छत्रपाल की कुछ कहानिया इस लिहाज़ से द्रष्टव्य हैं।

10. कहानी को उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त कुछ और लेखकों ने भी समृद्ध किया, जिनमें दीदारसिंह (धुंधलके), अयूब प्रेमी (राजमार्ग के यात्री) सन्तोष कौल (लक्ष्यहीन) अशोक जेरथ (देवदार की छाया तले) रमेश मेहता (एक मादा प्रतिशोध) ने अपने परिवेश तथा ज़िन्दगी को अलग अलग कोणों से देखा तथा अनुभव की प्रामाणिकता की चेतना का अच्छा प्रदर्शन किया। इन लेखकों में अपने से पूर्ववर्ती पीढ़ी की अपेक्षा भाषा तथा मुहावरे की सटीकता मिलती है और केवल घटनाक्रम वर्णन करने से सन्तोष नहीं किया जाता । दीदारसिंह मनकी गांठों को परत दर परत खोलने के लिए तहदार भाषा की खोज में संलग्न दिखाई देते हैं। उनकी 'मांग का सिंदूर' इस प्रसंग में उद्धृत की जा सकती है। अयूब प्रेमी (सलीब पर कटे फटे साए' में) मामूली घटना का गैर मामूलीपन टकसाली भाषा में उबारने को प्रयत्नशील हैं। सन्तोष कौल (उदाहरणतः ' लक्ष्यहीन') व्यक्तिमन की गुत्थियों तथा सामाजिक विषमताओं को प्रस्तुत करते हुए अर्धदार्शनिक मुद्रा से प्रसूत शब्दावली का चयन करती हैं। भाषाशिल्प के प्रति आवश्यकता से अधिक चेतना

से वस्तु का सम्प्रेषण बाधित हो सकता है। अशोक जेरथ (देवदार और देवदार) का गद्य घटना की विश्वसनीयता स्थापित करने के प्रयत्न में निखरता है। रमेश मेहता स्थिति को उसके सहज तथा सामान्य रूप में सम्प्रेषित करने के लिए प्रचलित मुहावरे को सांकेतिक अर्थ की गरिमा से मंडित करते हैं। महाराज कृष्ण शाह कथा के दबाव से शिल्प के पारम्परिक घेरे को तोड़ने के प्रयास में भाषा को समकालीन मुहावरे से सम्पन्न करते हैं। उनकी कहानी 'आधे कोस का चांद' कहानी शिल्प से उनके सचेत लगाव की प्रतीक है। सुतीक्ष्ण कुमार 'आनन्दम' (उदाहाणतः 'बबंडर') शब्दों को बहुत हद तक स्वातन्त्र्योतर नवलेखन की भाषा के नए संस्कारों से सजाने की प्रवृति प्रदर्शित करते हैं। ओ0 पी0. शर्मा 'सारथी' के लेखन में जीवन की गहन समस्याओं को प्रतीक तथा रूपक के माध्यम से प्रस्तुत करने का आग्रह होता है। उनकी कहानी (जैसे 'सड़क की यातना') का गद्य घटनाओं तथा चरित्रों को प्रतीक वाहकता की ऊंचाइयों तक ले जाने के प्रयत्न में बनता है और काव्य--भाषा का जैसा पारदर्शी हो जाता है।

11. जम्मू कश्मीर प्रदेश में रंगमंच यथोष्ट विकसित नहीं हुआ यद्यपि स्वतन्त्रता के शीघ्र बाद कश्मीर में कल्चरल कांग्रेस ने इस दिशा में अच्छी शुरुआत की और 1956 में जश्ने कश्मीर तथा कल्चरल एकैडेमी के नाटक मेलों में लगातार नाटक प्रंदर्शन का सिलसिला चल पड़ा । फिर भी प्रादेशिक भाषाओं में नाटक बहुत उल्लेखनीय स्थिति में नहीं। नाटक मेलों में प्रस्तुत अधिकांश नाटक या तो हिन्दी के मूल नाटक होते हैं या अन्य भाषाओं के नाटकों के हिन्दी अनवुाद। ऐसे में मोतीलाल क्यमू (तीन असंगत एकांकी) ओमप्रकाश गुप्त (युद्ध और शान्ति) तथा सुतीक्ष्ण कुमार 'आनन्दम' के मंच नाटक इस दिशा में लेखकों के द्वारा इस माध्यम का साभिप्राय प्रयोग करने की प्रतिभूति देते हैं। इन नाटककारों में से सर्वश्री क्यमू तथा आनन्दम ने नाटक लेखन को अभिव्यक्ति का मुख्य वाहन बनाया। प्रदेश में मंच की अपेक्षा रेडियो टी0 वी0 के लिए नाटक लिखने वालों की संख्या काफी है। इस प्रचार माध्यम की ज़रूरतें बहुत हैं अतः कई नाटककार लगातार रेडियो टी0 वी0 के लिए लिखते रहे। कुछ सुपरिचित नाटककारों के प्रसारित और चर्चित नाटकों को मंच के लिए परिवर्तित किया गया और नाटक मंडलियों द्वारा खेला गया । इस प्रकार के नाटकों में यद्यपि कार्य की तीव्रता उतनी नहीं पाई जात जितनी इनके सधे वार्तालाप से उम्मीद की जा सकती है, पर यहां इनसे एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई ।

12. कुल मिलाकर कहा जा सकता हे कि जम्मू कश्मीर प्रदेश में हिन्दी

गद्य यद्यपि रचनात्मक निबन्ध में बहुत ज़्यादा विकसित नहीं हो पा रहा, पर कहानी नाटक और आलोचना में इसे सतत निखार आ रहा है। प्रौढ़ चिन्तन के लिए सटीक मुहावरे की तलाश जारी है। रचनात्मक निबन्ध रचनाओं का एक संकलन ' शब्द जो तुमने दिए', रमेश मेहता के समर्थ सम्पादकत्व में एकेडेमी की ओर से प्रकाशित हुआ। रचनात्मक गद्य की समकालीन स्थिति के बारे में इस ग्रन्थ में संकलित निबन्ध स्थानीय प्रतिभा का आश्वासन देते हैं। यद्यपि निबन्धकार इस विधा में पहले से रचना करते रहे हैं, प्रस्तुत निबन्ध उनके द्वारा इसे गम्भीर और शिल्पसचेत अभिव्यक्ति–साधन के रूप में इस्तेमाल करने का संकेत करते हैं। संकलन में डॉ0 संसार चन्द्र का 'तुझ को पराई क्या पडी' उनकी लेखन शैली का प्रतिनिधि उदाहरण पेश करता है। सरल बोलचाल की भाषा में रोज़मर्रा की प्रयुक्त एक कहावत के बहाने वे व्यंग्य तथा हास्य पैदा करने की क्षमता का परिचय देते है। दर्शन साहित्य में आकर उसका निर्बाध सम्प्रेषण बाधित कर सकता है, पर दार्शनिक मुद्रा में निबन्ध गम्भीर चिन्तन का माध्यम बन सकता है। डॉ0 कौशल्या वली का 'अविरल चिन्तन धारा' दार्शनिकों और प्रवचन कर्ताओं के शब्दाडम्बर से बचते हुए अपना सन्देश पाठक तक पहुंचाता है। दृष्टां शैली इसमं उनकी सहायक बनती है। सुभाष भारद्वाज 'आधुनिक साहित्य में वर्तमान का आग्रह' में साहित्यिक रूढ़ भाषा के बदले मुहावरे में रूपक की सो पारदर्शिता और सुबोधता पैदा करते हैं। अशोक जेरथ (आहत चीडें) काव्य–सुलभ मानवीकरण के द्वारा गद्य को सरस बनाते हैं। 'सारथी' कहानी की रचना प्रक्रिया के वर्णन में वर्णात्मकता से बड़ी सावध ाानी से बचते हैं। उनका निबन्ध स्वयं कहानी की कथात्मकता (नैरेशन) का गुण समाहित करता है। ओम गोंस्वामी का निबन्ध 'साधारण जन और लेखकीय दायित्व' शुद्ध आलोचनात्मक सीमाओं के भीतर पड़ता हुआ निबन्धकार की रचना प्रतिभा का परिचय देता है। निबन्धकार इस विषय को व्यक्तिगत दृष्टि से रंजित करके अध्यापकीय आलोचना होकर नहीं रह जाने देते। जितेन्द्र शर्मा (बाजे वाले) समकालीन जीवन के विरोधाभास को एक एब्सर्डिस्ट द्रष्टा की नज़र से देखते हैं और स्थिति को हास्यपूर्ण शैली में प्रस्तुत करते हुए उसमे ज़रा भी हल्कापन या सस्तापन नहीं आने देते । संकलन में रतनलाल शान्त का निबन्ध ' शब्द तुमने रचे' भी शामिल है जो लेखन कर्म में रचयिता की विषय से विषयगत दूरी बनाए रखने की यातना पर लिखा गया है। रचनात्मक निबन्धों का यह प्रतिनिधि संकलन प्रदेश में प्रौढ़ गद्य रचना की किसी उपलब्धि का परिचय नहीं देता क्योंकि इस प्रकार के विरल प्रयास बहुत आश्वासित नहीं कर सकते लेकिन गद्यकारों में प्रतिभा होने के कुछ आरम्भिक अवश्य प्रस्तुत करते हैं। •

स्वातंत्र्योत्तर कश्मीर में हिन्दी शिक्षण : कुछ अनुभव, कुछ निष्कर्ष

कश्मीर से सम्बद्ध किसी भी समस्या तथा इसके समाधान की खोज के समय एक विषयगत वैज्ञानिक दृष्टि अपनाना ज़रूरी है और भाषा या शिक्षा सम्बन्धी समस्या इसका अपवाद नहीं। विशेषकर हिन्दी पठन–पाठन पर सोचते समय हम इस समस्या के ऐतिहासिक और भागौलिक संदर्भो पर सोचने से ही किसी सम्भव समाधान का संधान कर सकते है।

आज हमारे पाठ्यक्रम में हिन्दी एक स्वैच्छिक विषय है और चाहे–अनचाहे विद्यार्थी को इसे चुनना ही पड़ सकता है, हालांकि प्रगतिशील वैज्ञानिक युग तथा बिखरते सामाजिक सम्बन्धों के दबाव के कारण वह इस भाषा को विधिवत पढ़े बिना भी जान – सीख लेता है। पर यह तथ्य इस पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए कि हिन्दी का गैर एकादमिक पठन–पाठन यहां मात्र सौ वर्ष करीब पुराना है। तब इसके ऐच्छिक या अनैच्छिक विषय होने की बहस नहीं थी और इसका स्वरूप एक तथाकथित अन्तः–अहिन्दी प्रान्तीय, 'राष्ट्रीय' भाषा का जैसा था । पंजाब वह द्वार था जहां की अनुकूल तथा प्रतिकूल भाषागत हवाओं से होकर हिन्दी जम्मू और कश्मीर में आती थी। पंजाब विश्वविद्यालय कश्मीर, उत्तर पश्चिम सीमाओं, सिन्ध और शायद दिल्ली तक के अहिन्दी–भाषी विद्यार्थियों को 'अलंकारिक' परीक्षाओं की माला में पिरोकर उन्हें (रत्न, भूषण, प्रभाकर जैसी) अकादमिक उपाधियों से सम्पन्न कराता था । परीक्षाओं में बैठना विद्यार्थी की इच्छा तथा

योग्यता पर निर्भर था ही पर देश में हिन्दी के राष्ट्रीय महत्व ने इन परीक्षाओं को अर्हता (competence) का पर्याय माना था । पंजाब में राष्ट्रीयता का स्वरूप आर्यसमाज के आन्दोलन से उभरा था तथा इस आन्दोलन ने राजनैतिक जागृति के लिए सांस्कृतिक और खासकर भाषागत चेतना को महत्वपूर्ण माना था। कश्मीर में भी इन आलंकारिक परीक्षाओं के प्रति रूझान के दो स्पष्ट कारण थे। राष्ट्रीयता के रंग मं रंग जाने का उत्साह तथा हिन्दी संस्कृत के ज्वलंत सितारों – कालिदास, कबीरदास, सूरदास, तुलसी, मीरा के प्रकाश से दीप्त हो उठने की तड़प। समाज ने चूंकि इन परीक्षाओं को अर्हता का प्रमाणपत्र दिया था इसलिए यह उत्साह और तड़प निरर्थक नहीं जाती । रोज़गार के साथ इनका सीधा आनुपातिक सम्बन्ध था। इस प्रसंग में दो सत्यों की ओर हमारा ध्यान जाता है। एक यह कि पठन–पाठन की पद्धति उन्हीं परम्परापुष्ट परिपाटियों पर चल रही थी जिनसे हमारे यहां शास्त्रीय 'पाठशाला प्रणाली' चलती रही थी । इससे हिन्दी के प्राचीन या मध्यकालीन साहित्य को कुछ लोकप्रिय और प्रचलित संस्कृत काव्यशास्त्रीय नियमों पर आंकने का तरीका आम था। दूसरे यह कि समाकलीन रचना (जो 'द्विवेदी' या 'उत्तर द्विवेदी'– युगीन थी) को समकालीन अहसास के साथ समझने–समझाने के उपकरण उपलब्ध नहीं थे। (खुद हिन्दी प्रदेश में भी कम ही थे) यह अजीब पर सत्य है कि आज का विद्यार्थी प्राचीन तथा मध्यकालीन साहित्य के प्रति जहां रुचि नहीं रखता वहां हमारा बुजुर्ग हिन्दी प्रेमी इस साहित्य को बहुत रूचि से पढ़ता और आस्वादित करता है। आज की बदलती प्रवृत्तियों पर हम आगे बात करेंगे, परन्तु तब कारण स्पष्ट था कि काव्यास्वादन के हिन्दी के अपने प्रतिमानों के अभाव में रचित तथा पठित साहित्य इस देश की गहरी और विशाल संस्कृताधारित भूमि पर फलता फूलता रहा था। काव्य में रस और अलंकार की पहचान हो जाना आस्वादन की इति थी और पठन का आरम्भ शब्दों के खड़ी बोली पर्यायवाची जान लेने से होता था। हिन्दी पढ़ने वाला जितना संस्कृत की नियमावली में दीक्षित था, उतना सफल था और पढ़ने वाला चाहे–अनचाहे सौभाग्य या दुर्भाग्य से संस्कृत के आग्रहों से प्रशिक्षित हो जाता था। बाद में समकालीन की चेतना, महावीर प्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना में फूटने लगी पर यहां कश्मीर में उसके फूलने की कामना करना नवसंस्कृति की विकास प्रक्रिया से अनभिज्ञता ज़ाहिर करना होगा।

जम्मू कश्मीर हिन्दी प्रदेश की परिधि पर स्थित एक अहिन्दी प्रदेश है, जो स्वतन्त्र ऐतिहासिक व्यक्तित्व के और राजनैतिक भूगोल के कारणों से हिन्दी के प्रभाव छीटों से भिगोया जाता रहा है। इसके कई परिणाम यहां की हिन्दी शिक्षा

की स्थिति पर पड़े पर यह भी भूलना नहीं चाहिए कि यहां एक साथ एक से अधिक भाषिक तथा सांस्कृतिक दबावों को वहन किया जाता रहा । इससे हिन्दी का पठन पाठन तीव्र तथा अभिकेन्द्रित (convergent) नहीं हो सका। मातृभाषा कश्मीरी की जड़ों से उगकर यह पेड़ फारसी, अरबी, अंग्रेज़ी, इसलामी मध्य एशियाई और पश्चिमी पैवंदों में ही खिला। हिन्दी के, हिन्दू तथा भारतीय पैवंदों या शाखाओं की बात उपर्युक्त कारणों से हीन होती गई। पिछली शती के पहले अर्ध में तो यह हीनता मनोग्रंथि बनकर दृढ़ होती गई। संस्कृत की पृष्ठभूमि पर खड़े होने से इस पेड़ ने फ़ायदा और नुकसान दोनों उठाए। फ़ायदा यह कि पाठक वर्ग ज़मीन से बहुत दिनों तक नमी चूसता रह सका। नुकसान यह कि शिक्षक संस्कृत के सिमटते प्रभाव क्षेत्र के कारण खुद को शून्य में लटकता अनुभव करने लगा। दूसरी ओर उसके पाठक ने संस्कृत को परास्त हो रहे धर्म–आडम्बर का आखिरी पैंतरा माना। हिन्दी को उसकी कर्मकाण्ड रूपी शातिर सन्तान समझ कर वह उसकी चाल से बचने की कोशिश करता रहा । यह नियति तब तक हिन्दी का शिक्षक और पाठक भोगता रहा और भोगता रहेगा, जबतक कि यह सत्य उस पर प्रकाशित नहीं होता कि हिन्दी का सिर्फ समकालीनता से मतलब है। इसके तकाज़े आज की गुज़रती ज़िन्दगी से पूरे होंगे। इसके लिए उसे संस्कृत पर केवल उतना ही निर्भर रहना पड़ेगा जितना अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, इतालवी के पाठक–शिक्षक को ऊंचे अध्ययन के समय लातीनी–यूनानी पर रहना पड़ता है।

कश्मीर का हिन्दी शिक्षण–पाठन इन्हीं, बहुपक्षीय ऐतिहासिक एवं भौगोलिक कारणों से रेखांकित होता है। इनके आधार में इस बड़े तथ्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि यह अहिन्दी प्रदेश है, यहां की समस्याएं हिन्दी–भाषी क्षेत्र की जैसी नहीं। आज़ादी के बाद से स्थिति बहुत बदली है पर कुछ मूल तत्व पूर्ववत् मौजूद हैं। पुरानी हिन्दी और ख़डी–इतर उपभाषाओं के साहित्य का न भाषिक और न साहित्यिक अध्ययन हो पा रहा था। उनकी भाषिक विशेषताएं और व्याकरण जानने जतलाने का न साधन था, न उपादेयता । उनका साहित्यिक मूल्यांकन सीमित ही रहा होगा, क्योंकि भाषांतरण में ही शिक्षण–काल निकल जाता था। जितना मूल्यांकन हो सकता था उसके लिए हिन्दी के स्वतन्त्र काव्यालोचन ने पर्याप्त पाठ्य सामग्री तैयार नहीं की थी और प्राचीन शास्त्रीय आलोचना शिक्षण के हर मरहले पर इस्तेमाल नहीं की जा सकती। वस्तुतः ऐसी आलोचना के मानदण्ड़ों से केवल शोधात्मक अध्ययन हो सकता है और उत्तरस्नातक स्तर पर इनके व्यावहारिक प्रयोग का अभ्यास कराया जा सकता है। अवरस्नातक स्तर पर उनकी परिचयात्मक पहचान कराई जा सकती थी, पर उससे पहले के

विद्यालयीय स्तर पर साहित्य को सीधे जीवन की स्थितियों से जोड़ा जाकर समझना–समझाना ज़रूरी होता है। यही साहित्यिक अध्ययन की परिपाटी हो सकती है। भाषा के अध्ययन–अध्यापन के लिए जीवन्त भाषा से जुड़े रहकर अभ्यास करने–कराने को छोड़ कर कोई रास्ता नहीं। कश्मीर के अध्यापक की स्थिति उतनी कठिन नहीं थी जितनी अंग्रेज़ी के भारतीय अध्यापक की जो भाषित तथा प्रयुक्त भाषा से इतना दूर पड़ा था कि उस पर भी लातीनी की तरह शोध किए जाने की बात होने लगी थी ।

यह बात अब मानी जानी चाहिए कि प्राचीन तथा मध्ययुगीन साहित्य के केवल अनिवार्य रचयिताओं को पढ़ने–पढ़ाने तक ही यहां के शिक्षण–पठन को सीमित रहना होगा । समकालीन साहित्य तक आते–आते पाठक को विगत सौ वर्ष के साहित्य का आस्वादन कराया जा सकता है जो मात्रा तथा गुण दोनों दृष्टियों से हीन नहीं है। फिर ज़रूरत इस बात की भी है कि भक्ति साहित्य का पर्याप्त संकेत किया जाए, लेकिन पठन–पाठन में उस पर अब तक दिया जाने वाला ज़ोर कम हो जाना चाहिए । ऐतिहासिक संकेत करते समय हमें प्रचलित और पारम्परिक विश्वासों–प्रतिमानों को नई आलोचना के प्रकाश में समझना होगा। साहित्यिक प्रवृत्तियों के परिवर्तनों को केवल राजनीति या समाज के सार्वभौम अन्तर्संघर्ष की अभिव्यक्ति के रूप में जतलाना होगा। लक्ष्य ग्रन्थों के बाद लक्षण ग्रन्थों की रचना के घिसे पिटे नियम से ही रीतिकालीन अभिव्यक्ति को परखना नहीं होगा। छायावादी कविता का उद्भव स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह बतलाना केवल एकांगी दृष्टि है। सस्ती सहायक पुस्तकों में नई दृष्टि और नई सोच का प्रवेश नहीं होता और हमें यथा सम्भव इनकी आदत छोड़नी तथा छुडानी पड़ेगी।

कुल मिलाकर हुआ यह कि तब हिन्दी के अध्यापक ने अपने अहिन्दीत्व तथा विद्यार्थी के अहिन्दी मातृ–भाषात्व के बीच एक सरल समझौता किया था। अपने पढ़ाने के तरीकों में वह सामान्य प्रक्षिशण में सुधार ला सकता था, पर अपनी अन्तहीन कमज़ोरियों पर किस प्रशिक्षण में काबू पाया जा सकता है ? उच्चारण, वाक्य रचना और भाषा के नये व्यावहारिक प्रयोगों से उसे सम्पर्क बनाए रखना था। अब इस सम्पर्क के सूत्र खुद ही उस तक पहुँच गए । रेडियो के बाद दूरदर्शन के माध्यम से हिन्दी की ह्रदय भूमि की धड़कन उस तक सीधे पहुंचने लगी। कुछ चुने हुए साहित्यिक कार्यक्रमों जैसे कवि सम्मेलनों, कहानियों या उनके नाट्य रूपांतरणों, नाटकों और साहित्यिक मूल्य की फिल्मों का सामूहिक दर्शन कराया जा सकता अथवा व्यक्तिगत दर्शन करके भी कक्षा में सामूहिक चर्चा कराई जा

सकती थी जो कभी कबार कहीं कराई गई हो तो हो। इस माध्यम का सबसे अधिक लाभ अहिन्दी प्रदेश में सम्भव था जो भौगोलिक दूरी से भाषा साहित्य की वर्तमान रचना तरंगों से अनछुआ रह जाता है। उन दिनों किताबें कम आया करती थीं और जितनी आतीं उनमें सही किस्म की कम होतीं और जितनी सही होतीं उनके प्रति अध्यापक–चयनकर्ता का आग्रह नहीं होता। पत्र–पत्रिकाएं पढ़ने की आदत कुल मिलाकर बहुत कम थी। गत सदी के सातवें दशक तक कश्मीर में भी व्यावसायिक अर्धसाहित्यिक फिल्मी खेलकूद सम्बन्धी पत्रिकाएं आने लगीं। अध्यापक स्कूल में न सही कक्षा में कभी–कभार कोई पत्रिका मांगकर या मंगवा कर विद्यार्थियों में पढ़वा सकते थे, पर ऐसे हमदर्द मेहनती शिक्षक और खुशकिस्मत विद्यार्थी कम थे। फिर परिचयात्मक बातचीत संगठित करने के उपक्रम भी कम ही होते जिनसे स्वतन्त्र पढ़ने की रुचि जगाई जा सकती थी। इस प्रक्रिया से विद्यार्थी को इस सत्य से परिचित कराने में मद्द मिल सकती थी कि हिन्दी एक ज़िन्दा भाषा है जिसका साहित्य भारतीय ज़िन्दगी के विविध पक्षों, समाज के विभिन्न पहलुओं को उजागर करता है। जब दूरदर्शन (अर्थात् सरकारी, निजी सारी चैनलों) पर व्यावसायिक फिल्मों के साथ–साथ गम्भीर फिल्में दिखाई जाने लगीं, एक निश्चित रुचि वाला वर्ग दर्शकों में उभरने लगा जो इसे अपने आसपास के जीवन से सीधा जुड़ा पाकर सहानुभूति से देखता। समकालीन जीवन के चित्रित साहित्य को आज का पाठक ज़्यादा सहानुभूति से समझ सकेगा यदि उसमें विशिष्ट पठन की आदत पैदा की जाय। शायद यह आदत पैदा करने की आदत पहले हम अध्यापकों को डालनी पड़ेगी। हिन्दी पठन–पाठन की परिधियां इतनी परिवर्तनशील हैं कि जब तक शिक्षक उन पर पैर जमाए तथा केन्द्र में बैठे हुए छात्र को अपनी ज्ञानरश्मियों का लक्ष्य बनाने की योजना बनाए, परिधि का चक्का घूमकर कहीं से कहीं पहुँच चुका होगा। हिन्दी भाषा साहित्य ऐसा चक्का है जिसका केन्द्र और परिधि लगातार एक–दूसरे के गिर्द घूमते हैं, इसलिए यहां शिक्षक–पाठक को लगातार भूमिकाएँ बदलनी पड़ सकती हैं।

•

हिन्दी साहित्य के दायरे

मैं कुछ विद्वानों के इस मत से केवल अंशतः सहमत हूँ कि हिन्दी साहित्य के विकास के इतिहास में हिन्दीतर क्षेत्र में रचित हिन्दी साहित्य तथा रचनाकारों को उनका आधिकारिक स्थान नहीं दिए जाने की सब से बड़ी वजह यह है कि "इतिहास और आलोचना लिखने वाले लोग उनके बीच नहीं हैं।"[1] यह माना जा सकता है कि अहिन्दी प्रदेशों में आज पिछले पचास वर्ष की प्रगति के फलस्वरूप हिन्दी रचनाकारिता के लिए भी बेहतर माहौल तैयार हुआ होगा, पर आज रचना की समीक्षा के लिए उसी अनुपात में वहाँ की स्थिति बेहतर हुई मानी जा सकती है ? आलोचक तब यदि नहीं था तो क्या इन पाँच दशकों में कोई जन्मा नहीं होगा ? आज अपने आलोचनाकर्मियों पर नज़र दौड़ाएँ तो अहिन्दी–प्रदेशी आलोचकों के कोई ख़ास स्वीकृत नाम नज़र नहीं आते। सवाल आलोचक होने का नहीं, क्योंकि दस रचनाकार होंगे तो उनमें से कम से कम एकाध आत्मालोचक तो होंगे ही। सवाल आलोचक को स्वीकृति मिलने का है, उसे मान्यता मिलने का है । पिछले पचास वर्षों में विभिन्न अहिन्दी प्रदेशों में लिखी गई समालोचना–समीक्षा का एक ऊपरी अवलोकन भी करें तो यह दुखद सत्य उभर कर सामने आएगा कि ऐसी आलोचना–प्रतिभाएँ भी थीं, जिन्होंने स्थानीय रचना को अखिल भारतीय रचना से मिलाकर आकलित करने के प्रयास किए, जिससे रचना तथा आलोचना दोनों के द्वार खुलने की सम्भावनाएँ बढ़ सकती थीं, पर ऐसे व्यक्तियों को प्रत्याशित मान्यता

1. संदर्भ : टिप्पणी – 2. समकालीन भारतीय साहित्य, अंक 110 मार्च अप्रेल 2004, रामवचन राय

नहीं दी गई क्योंकि, श्री रामवचन राय के शब्दों में कहूँ तो, "हिन्दी साहित्य का इतिहास मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश का इतिहास समझा जाता था।" यह –मान्यता' कोई राजनीतिक अस्त्र नहीं था, पर इसे प्रयोग करने वाले यक़ीनन एक प्रकार की संकुचित आत्मतुष्ट राजनीति में साँस लेते रहने में ख़ुश थे। इस तरह की राजनीति से केवल सुविधा–परस्ती, 'कंपलेसेंस' बढ़ती है, जिस में मस्त पड़ा व्यक्ति तब चेतता है जब बाढ़ का पानी उसके पाँवों को छूने लगता है। अब जो यह बाढ़ अंग्रेज़ी के रूप में आई है तो राष्ट्रभाषा के सुविधा–भोगी भक्त अपनी आँखों पर विश्वास नहीं कर रहे कि जिस राष्ट्रीयता की आँधी ने उन्हें स्वतन्त्रता के पन्द्रह वर्ष बाद ही राजभाषा की गद्दी का अकेला हक़दार बन जाने का आश्वासन दिया था, पचास वर्षों में अब वह सु–आगत बाढ़ बन कर इस देश में प्राथमिक कक्षाओं से और गहरे जा कर घरों में मातृभाषाओं का स्थान लेने को बढ़ रही है। तब हिन्दी को उत्तर प्रदेश से बाहर क़दम रखने की परवाह नहीं थी, अब उत्तर प्रदेश में ही वह उखड़ रही है।

मान्यता निस्सन्देह एक सचेत सक्रिय कर्म होती है जो व्यक्तिगत और सरकारी/सामुदायिक, दोनों स्तरों पर प्रतिभाओं को बनाने बिगाड़ने की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। अंग्रेज़ी के प्रसार और रचनाकर्म दोनों के दिनोदिन व्यापक होते रहने के पीछे उस भाषा के तथाकथित 'अनुदार' लोगों (साहित्यकारों) के द्वारा ऐसे साहित्य को भी मान्यता देने के बात थी, जो कथ्य की दृष्टि से उनके ख़िलाफ़ भी जाता था, पर अंग्रेज़ी का रचनावृत्त बढ़ाने में सहायता करता था। क्या रवीन्द्र, सरोजिनी नायडू य़ा मुल्कराज आनन्द को विदेशी स्वीकृति दिलाने के पीछे किसी भारतीय आलोचक की आलोचना थी ? आज विक्रम सेठ और अरुंधती राय को मान्यता दिए जाने का कारण क्या (केवल) यह है कि इन लेखकों का कथ्य और भाषा 'अपूर्व' और विश्व में फैले अंग्रेज़ी रचनाकारों में 'अप्रतिम' है ?

यह सुखद आश्चर्य की बात है कि आज हिन्दीतर क्षेत्र की हिन्दी रचना के इतिहास में स्थान–निर्धारण का प्रश्न एक ऐसे विद्वान ने उठाया है जो स्वयं अपने अनुभव से इस विषमता को देख चुके हैं और इतिहासकारों का ध्यान इस ओर खींचना चाहते है। पर मुझे लगता है कि शायद इससे पहले एकाध बार ऐसे प्रयत्न हुए और थोड़ी दूर चल कर निरस्त हो गए । " भारतीय हिन्दी परिषद' और ' हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के कुछ अधिवेशनों में ऐसी आवश्यकता की ओर संकेत किए गए और बस । फिर जब ' हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास' (नागरी

प्रचारिणी सभा) प्रकाशित हुआ तो लगा कि मान्यता देने न देने के बीच इस प्रश्न को ही छोड़ दिया गया।

श्री राय ने कुछ लेखकों के नाम ज़रूर गिनाए है। उन लेखकों का ज़िक्र आम तौर पर हिन्दीतर हिन्दी लेखकों के प्रसंग में अब तक होता रहा है यह कोई बहुत सन्तोष की बात नहीं। सरकारी तौर पर ऐसे लेखकों को प्रोत्साहित करने के उपक्रम होते हैं, पर वे सही रचनात्मक लेखक को रचना–सन्तुष्टि नहीं प्रदान करते, भले ही उसे कुछ मालमता दिला दें। सन्तुष्टि का स्रोत प्रकाशन होता है। किसी पत्रिका में छपने या किसी प्रकाशक द्वारा छापे जाने से ब्रड़ा पुरस्कार कोई नहीं हो सकता। प्रकाशित होने के बाद लिखते रहना उसकी अपनी प्रतिभा के स्रोत पर निर्भर होता है। मैं नहीं जानता अन्य अहिन्दी–भाषी हिन्दी लेखकों के अनुभव इस संदर्भ में क्या हैं। मैं कश्मीर में रचनारत मित्रों, सहकर्मियों के ऐसे अनुभवों का उदाहरण दे कर स्पष्टीकरण देना चाहूँगा।

गत शती के सातवें, आठवें, नवें दशकों में वहाँ हिन्दी रचना का बहुत अच्छा माहौल था। ऐसा नहीं कि उत्तर–प्रगतिवादी तथा नई कविता के उस युग में वहाँ छायावादी मानसिकता ही छाई रही हो या यादव–राकेश–निर्मल–रेणु से प्रभावित कथा–प्रवृत्तियों के घेरे फैल कर वहाँ पहुँचे नहीं थे; या सार्त्र–कामू–लीविस–बेकेटं का तथाकथित 'आधुनिक' संवेदना–संसार घाटी में रचनाशील उन हिन्दी लेखकों को छू नहीं रहा था; वे लेखक हर दृष्टि से जागृत और विचारोन्मुख थे । पर जब भी उनकी रचना किसी हिन्दी पत्रिका से लौटाई जाती तो साथ में स्लिप पर लिखा रहता कि "आप किसी कश्मीरी रचना का अनुवाद भेजिए "। इस तथ्य की गवाही इस समय विस्थापित होकर देश में दूर–दूर अनाम जीवन जीते मेरे कई सहकर्मी देंगे। एक हिन्दी लेखक को उसकी ' कश्मीरी ' रचना का अनुवाद भेजने के लिए कह कर एक तो उसे हिन्दी लेखक नहीं माना जाता, दूसरे उसे परोक्ष सुझाव दिया जाता है कि तुम कश्मीरी में लिखो तो बेहतर है, यहाँ तुम्हारे लिए कोई जगहं नहीं । कह सकते हैं कि सम्पादक अपनी पत्रिका में पाठकों का ' कौतूहल' (रुचि नहीं) बनाए रखने के लिए अन्य प्रदेशों की ' विचित्र' ज़िन्दगी के चित्रण छपवाना चाहते हों, पर हिन्दीतर लेखक यों भी अपनी हिन्दी रचना में उन्हीं ' विचित्रताओं ' का चित्रण करता। भाषा उसकी वही रहती, मूल में भी और अनुवाद में भी । वस्तुतः बात यह थी कि उसे हिन्दी लेखक के रूप में मान्यता नहीं दी जाएगी, कश्मीरी लेखक के रूप में दी जा सकती है। (ऐसी मान्यता देने वाले हिन्दी के लेखक–पत्रकार कौन होते थे ?) कहना नहीं होगा कि कई

हिन्दी लेखकों ने आहत हो कर हिन्दी में लिखना ही छोड़ दिया और कश्मीरी में लिखने लगे। या कई अमान्यता के बावजूद हिन्दी में लिखते रहे क्योंकि उनका पठन–पाठन, संगति, सोच हिन्दी की थी। वे कश्मीरी में अपनी रुचि से लिखते या नहीं लिखते रहे। इसका असर उनके हिन्दी रचनाकर्म की केन्द्रिकता पर पड़े बिना रह नहीं सकता था और ऐसा ही हुआ। इस संदर्भ में इलाहाबाद में शिक्षा–ग्रहण के दौरान और बाद में हुए अपने अनुभवों से मैं कई उदाहरण दे सकता हूँ, पर बात तूल पकड़ेगी। अपने उन क़रीबी मित्रों के भी उदाहरण हैं मेरे पास, जो अब प्रतिभा के विकास के अन्तिम चरण या काफ़ी देर बाद के दिनों में कुछ–कुछ मान्यता प्राप्त करने में सफल हो सके हैं। अपने अनुभव मैं, बहरहाल, लिख कर प्रकाशित करना चाहूँगा, शायद श्री रामवचन राय जैसे विद्वान कभी उनका उपयोग कर सके।

आरम्भ में हिन्दीतर क्षेत्र में हिन्दी के आलोचक नहीं होने के मुद्दे पर जो बात मैं ने इस चर्चा में उठाई, उस सिलसिले में एक और वस्तुस्थिति की ओर पाटक का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। आज हिन्दी केवल उत्तर प्रदेश तक सीमित नहीं । पठन, पाठन और लेखन के बीसियों केन्द्र–उपकेन्द्र अहिन्दी प्रदेशों में हैं और मात्रा तथा गुण दानों दृष्टियों से बहुत कुछ लिखा जा रहा है। साथ ही सरकारी और गैर–सरकारी उपक्रमों के चलते समीक्षा और आकलन का काम भी हो रहा है। ऐसे में हमें ऐसी पुस्तकें मिलती हैं – *जम्मू कश्मीर में हिन्दी लेखन, हिमाचल में हिन्दी रचना, पंजाब के हिन्दी लेखन का इतिहास, महाराष्ट्र में हिन्दी, केरल में हिन्दी भाषा और साहित्य* आदि–आदि।

एक दृष्टि से देखें तो इस तरह हिन्दी के रचना–केन्द्रों के विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों का आभास मिलता है और ऐसा होना हिन्दी के, हिन्दी साहित्य के स्वास्थ्य के लिए शुभ लगता है। पर देखा यह गया है कि ऐसे ग्रन्थों में स्थानीय लेखकों की उपलब्धियों को अतिरंजना के साथ पेश किया जाता है, उन्हें समकालीन लेखक के रू–ब–रू रख कर, मूल्यांकित नहीं किया जाता । कारण, ऐसे ग्रन्थकार की सूचना और दृष्टि सीमित और संकुचित होती है, क्योंकि ज़्यादातर स्थितियों में वह तन्त्र का चहेता ' विद्वान' होता है और थोड़े समय में ही यथा–आदेश लिख कर पेश करने का आदी होता है। यदि इन तथाकथित उपकेन्द्रों के महत्त्वपूर्ण लेखकों और वहाँ के सार्थक लेखन को मुख्यभूमि के रचनाकार–आलोचक–पत्रकार मान्यता दें तो ऐसे प्रादेशिक स्तर की 'उपलब्धि ' का गुणगान करने की नौबत न आए । मुख्यभूमि के प्रकाशन को भी इस क्रम में अपना योगदान देना होगा। •

प्रार्थना

मुंह अन्धेरे ही
शहर के देवी देवता
अपने अपने भक्तों से घिर जाते हैं
देवता प्रसन्न होते हैं
'सुख सम्पत्ति घर आने ' तथा
' कष्ट मिटाने, तन का' के
आश्वासन आसमानों से बरसाते हैं
पर मेरे शंकालु मन को डर है
कि आसमान अब उतना आक्सीजन नहीं जनता
कि मेरे दिये की लौ
आखिरी पहर तक चले
कि मेरी कविता का रतजगा पूरा हो जाए

मेरी प्रार्थनाएं मन्दिर नहीं जानते
कि लम्बी गर्मियों में मैं ने
ऊंचे भटकते बादलों के लिए
पृथिवी की प्यास की समझ मांगी थी
और सर्दियों में चाहे थे
सीलन वाले कमरों के लिए
धूप के कुछ गुनगुने वायदे।

पर मेरी नज़रें निकल पड़ती हैं
कुरेद कुरेद कर टटोलती हैं बर्फ की राख
और चुन चुन कर रखती हैं चिंगारी
अपने कोरे कागज़ों में सम्हाल कर
कभी कभी चित्रों में
देवी देवताओं के पैरों में
क्योंकि तस्वीरें बेहरकत पड़ी रहती हैं
अपने आसमानों के शून्यों में
खोई रहती हैं
प्रार्थनाओं के ठंडे सुखद संगीत में ।

•

(ख) समकालीनों के बीच

मित्रो
यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता
कि मैं वापस आ रहा हूँ
सवाल यह है कि तुम कहां जा रहे हो ?
मित्रो
यह कहने का कोई मतलब नहीं
कि मैं समय के साथ चल रहा हूँ
सवाल यह है कि समय तुम्हें बदल रहा है
या तुम
समय को बदल रहे हो
मित्रो यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता
कि मैं घर आ पहुँचा
सवाल यह है
इसके बाद कहां जाओगे ?

— श्रीकान्त वर्मा

मैं और मेरा समय

अपने समय के साथ अपने जाने बूझे या अनजाने सम्बन्धों का हिसाब करने बैठता हूँ तो चिन्ताजनक दुविधा होती है। क्या कहूँ उस समय के बारे में जो मेरे बावजूद है और यह निश्चित है कि मेरे बावजूद होगा । क्या होगा, नहीं जानता पर मेरे होने न होने से उसके एटीट्यूड पर कोई असर नहीं पड़ने वाला, इतना अभी जान गया हूँ । मेरी यह जानकारी इसलिए भी पक्की है कि समय की यह अभिवृत्ति मेरे वजूद के आगामी संयोग या असंयोग अर्थात् मेरे इत्तिफाकिया जन्म या अजन्म से पहले भी ऐसी ही थी ।

जो अभी है, उसे शायद मैं अपना समय कह सकता हूँ, भले ही वह मेरे बावजूद है। मेरा ऐसा कहना शायद मेरी मजबूरी हो, क्योंकि उसके बिना मैं क्या हू, मैं नहीं जानता । अपने समय से अलग या ऊपर या परे होने का सवाल मैं इस संदर्भ में उठाऊंगा नहीं क्योंकि मुझे मालूम है कि इस सवाल ने बड़े बड़ों और अच्छे भलों का रास्ता भटका दिया है। मैं इस खतरे के प्रति सचेत हूँ कि कइयों ने सिर्फ स्वप्नवादी अन्तर्जगत को तकरीबन तथ्य का दर्जा दिया है, जहां उनकी सामयिकता का कोई दखल नहीं। स्वप्न वाद, रचनाशीलता और कल्पना–प्रवणता को काटता है और रचनात्मकता या जागृति की रही सही प्रतिभा को खत्म करता है । और मैं अपने समय से जो उम्मीद रखता हूँ या उसके भय से जो भीति मुझे होती हैं उस में जागृति की समाप्ति आखिरी ही हो, ऐसा चाहता हूँ ।

स्वप्नवाद की तरह तथ्यवाद भी जागृति का घातक होता है और वह भी समय से परे की सम्भावनाओं की बात ऐसे करता है कि लगता है कि अस्थाई तथ्य को उसी शाश्वतता से अभिभूत होकर बयान कर रहा है जिससे सिद्धान्ततः उसे हमेशा इनकार था।

मुझे यह कहते हुए किसी अर्धदार्शनिक की सी कोई गलतफहमी नहीं कि मेरा समय मेरे बिना अपूर्ण है जब कि यह निश्चित है कि मैं इसके संदर्भ के बिना अधूरा रहूंगा। इसलिए मैं इससे सीधे आंख मिला नहीं सकूं या मिलाना नहीं भी चाहूँ तब भी यह मेरे लिए अहम है। अहमियत की इस स्वीकारोक्ति की पूरी सिग्निफिकेंस के बारे में भी मुझे पूरा यकीन नहीं । यानी मेरी दुविधा बनी हुई है कि क्या कहूँ उसके बारे में जो मेरे बावजूद है।

पर अपने समय के बारे में मुझे कुछ कहना चाहिए क्योंकि मैं इसका एक हिस्सा हूँ। मेरा समय जिस जीवन–ऊर्जा से चलायमान है उसमें मेरा भी एक हिस्सा है क्योंकि वह मुझे भी ठेल रही है। जब यह ऊर्जा मुझे नहीं मिलती तो मैं इसका दावेदार भी बनता हूँ और रो भी पड़ता हूँ, उन कठोर नियमों का हवाला देता हूँ जो मेरे न चाहते हुए भी मुझ पर लागू होते हैं । हिस्सेदारी की इस गर्म–सर्द प्रक्रिया में पड़ा हुआ मैं एक तरह की ज़िम्मेवारी से घिर जाता हूँ कि इस प्रक्रिया को देखूं और बोलूं । यह ज़िम्मेवारी मेरे लिए अच्छी है क्योंकि इससे मैं उस दुविधा से कुछ देर की छूट पाता हूँ जिसका ज़िक्र ऊपर किया गया है।

अपने समय के बारे में कुछ कह पाने की ज़िम्मेवारी या दायित्व का बोध मेरी दशा एक शिक्षार्थी की जैसी बना देता है कि मैं देखूं कि अपनी पटकथा में मैं कहा हूँ । यानी कि मेरी अपनी पटकथा है और इसे जांचने का दायित्व भी मेरा है। वरना मुझे अपनी इस रोज़मर्रा की स्पष्ट, सरल, जीती–जागती, गुज़रती दुनिया की व्याख्या करने की ज़रूरत क्या है ? खास तौर पर जो दुनिया हम सब पिछले 30–40 या 50 वर्ष से जी रहे हैं । हम देश और विदेश, पृथिवी और आकाश में अपने जैसे लोगों की कारगुज़ारी भी जानते हैं। सफलताएँ और असफलताएँ सब की कहानी हमें मालूम हैं क्योंकि चाहे अनचाहे हम ही वह कहानी हैं। हम में से बहुतों की समझ कभी कभी इतना चौंका और चौंधा देती है कि हमें यह दुनिया अपूर्व लगती है। शायद हमारी यह साझी दुनिया अपनी उपलब्धियों में भी उतनी ही अपूर्व है जितनी अपनी मूर्खताओं में ... अपूर्व यानी जैसी पहले नहीं थी। इतनी अपूर्व कभी नहीं थी कि वैश्विकता ओर संकुचित धर्मांधता की सांझी तस्वीर एक

ही दशक के फलक पर साफ रंगों में उभरती हो। जैसी भी है यह हमारे आज की साझी दुनिया मेरी चिन्ता का सामान्य विषय हो सकती है, एक व्यापक विषय भी; पर अपनी ऐकांतिक पटकथा मैं खुद ही लिखता हूँ। मुझे लिखनी ही पड़ती है अलग–अलग से सब को लिखनी पड़ती है । यह लिखते–लिखते कभी फँस गए यानी इस दुनिया की सतही सरलता और हमवारी के छल में आ गए तो खुद को मुँह दिखाना मुश्किल होता है। इसलिए अपनी पटकथा में अपनी निश्छल उपस्थिति ही दर्ज करते रहना पड़ता है । औरों की नहीं जानता पर मैं ऐसा करते समय एक शिक्षार्थी हो जाता हूँ । अपनी पीड़ा का शिक्षार्थी।

लेखन जब शुरू होता है तो कैसे कैसे अनसुने सत्य दुनिया को पहली बार सुनाने की ललक होती है और लेखन को पेशेवर रंग देने के प्रति खुलेपन का रवैया नहीं होता । पर आगे चलकर पेशेवर –की–सी लेखन–धर्मिता को खारिज नहीं किया जाता बल्कि इसे भी इष्टता की एक स्थिति माना जाता है। इष्टता एक ही है पूर्णता, जिसकी प्राप्ति की यात्रा कठोर हो सकती है। गत चालीस वर्षों से इस यात्रा में शामिल हूँ। इस दौरान सिर्फ शिकायतें रहीं कि समय मेरे बावजूद गुज़र रहा है, ऐसी कोई तसल्ली नहीं पाई कि मेरी सुनवाई का कोई मंच खुलने वाला है। मेरी पीड़ा का यही ताना बाना है। इस पीड़ा को समझने के लिए समय से ही हथियार लिए और देखते देखते कुछ कहने बोलने की ज़िम्मेवारी कुबूल की। मैं इसे चैलेंज नहीं कहता क्योंकि चैलेंज असमानों के बीच नहीं होता। आखिर इन हथियारों से मैं पीड़ा को खत्म तो नहीं कर सका, पर ये उपकरण मुझे अपनी पटकथा लिखने और उसमें अपनी पीड़ा की प्रकृति समझने में सहायक हुए। मैंने समय से भाषा ली, मुहावरे की गठन सीखी। यह जाना कि मेरी अभिव्यक्ति का कविता वाला हथियार ज़रा पैना है क्योंकि यहां मैं निपट अकेला और खुला होता हूँ अपनी अपूर्णता और अपने आसपास की विषमता के सामने। मैंने यह भी जाना कि कभी अकेली पीड़ा के लिए भी चश्मदीद गवाह चाहिए होता है और तब कहानी ही मेरी सोच के लिए उपयुक्त कनवास हो सकती है। इस यात्रा के दौरान मुझे यह पता चला कि पीड़ा का एक अंदरूनी नक्शा भी होता हे जिसकी लकीरें एक सतत संघर्ष में रहती हैं और एक दूसरे को काटने से ही उभर आती हैं। ऐसे में अभिव्यक्ति नाटक का रूप लेती हैं। कभी यह लगा कि मेरी पीड़ा वहीं से शुरू होती है जहां शब्द जन्मता है, अपने ताम–झाम के साथ, परिवेश, व्यक्तित्व, समुदाय–बोध आदि के व्याकरण के साथ, जिसे रचते हुए लेखक और भावक एक दूसरे के रूबरू होते हैं। ऐसे शब्द को समझते हुए आलोचना जन्म लेती है और मुझे पीड़ा से मुक्ति की राह दिखाई देती है। मेरी पीड़ा, मुझे लगता हे कि

बहुआयामी है और इसे मैं डिब्बा बंद नहीं कर सकता। पेशेवर का सा बेलाग प्रेसीजन मेरा इष्ट हो सकता है, पर कहने को मेरे पास पीड़ा के अलावा कुछ नहीं ।

मैं नहीं जानता कि समय मुझ से क्या अपेक्षा रखता था। पर अपनी लगातार बेचैनी का अन्दाज़ा लगाता हूँ तो लगता है यह मुझ से बहुत कुछ चाहता रहा होगा, उससे बहुत ज़्यादा जो मैंने इसे दिया । आखिर यह बेचैनी भी तो इसी की दी हुई है। इसी ने मुझे कभी कश्मीर की तंग घाटी से निकाल कर इलाहाबाद के खुले मैदान में पहुँचा दिया और इसी ने मुझे कश्मीर हिन्दी साहित्य सम्मेलन, के हिन्दी के प्रति वचनबद्ध वातावरण के साथ–साथ समकालीन कश्मीरी लेखक समुदाय के बीच रख दिया। शिक्षण के रोज़गार को इतनी संजीदगी के साथ अपनाने की शिक्षा भी उसे ने दी कि पढ़ा कर बचा हुआ समय अपने कनिष्ठ सहयोगियों (यानी छात्रों) की रचनात्मक योग्यताओं का साक्षी बन कर गुज़ारूं । सत्य कहां पर कौन किस रूप में जानता और अनुभवता है, यह जानने समझने की बच्चों सी इच्छा और उससे सुखद सन्तुष्टि मुझे थोड़ा थोड़ा रूमानी बनाती रही और जैसा हर रूमानी ख़ोजी के साथ होता है, समय के सत्य का बहुविध रूप मुझे बहुविध ज़िन्दगी की घनता और विरलता दोनों के बीच से गुज़ारता रहा । मैं धार्मिक मतवाद से गुज़रा तो अपने समय के विरोधों की हाइपोथेटिक परिणति के पूर्वानुमान से उसी तरह मोहाविष्ट (हिप्नोटाइज़्ड) हुआ जिस तरह साम्य के मतवाद से गुज़रते हुए इन विरोधों की दूसरी तरह की हाइपोथेटिक परिणति के पूर्वानुमान से निश्चेष्ट हो गया । मैं नहीं कह सकता कि मैं आज इस मोह और निश्चेष्टा से खुद को पूरी तरह मुक्त कर सका हूँ या नहीं पर यह सच है कि इन अलग अलग और एक दूसरे के विरोधी रास्तो पर चलते हुए मैंने उस बहुरूपी छलिया के चेहरों को पढ़ने की कोशिश की जिसे समय कहते हैं और इतना भर जान लिया कि उसका कोई रूप अन्तिम नहीं, उसका कोई छल सुगम नहीं।

हमारा समय किसी शाश्वत समुद्र की कोई लहर होगा पर मेरी समझ में आने वाली छिटपुट धाराओं की तस्वीर अस्थाई और निष्ठुर है। नहीं होती ऐसी ये धाराएं तो मुझे मेरी छोटी सी ज़िन्दगी की मामूली सी विरासत से इस तरह निर्दयता से काट कर नहीं बहा देतीं कि मुझे आज खोए की स्मृति तथा अप्राप्त सम्भावनाओं के बीच पेंडुलम की तरह लटकना पड रहा है। कश्मीर में था तो झूठ की स्वीकृति में सिर हिलाने का आदी बनाया गया था और अब निष्कासन के बाद उसे दोहराने की कस्में रोज़ उठानी पड़ रही हैं। यह मेरा आत्मसंघर्ष है और इस में मेरे साथ

मेरा सहजात सहयोगी समाज है। हम सब चल रहे हैं खामोश सफर पर, हम सब सूधे और बोदे, अपने समय की तस्वीर बनाते हुए –

" न ओरु काँसि प्रुछुनम
न योरु कैंह वौनमख
रोबूदु हमनफसन हुंद
सफर तु खामोशी ।"

पूछा नहीं किसी ने मुझ से, मैंने भी कुछ नहीं कहा
मेरे बोदे सह–जातों का चला सफर और खामोशी
(रहमान राही)

अपने समय के तेवर मैं भी पढ़ रहा हूँ और मेरे सहयोगी हमसफर भी इसे पढ़ रहे हैं, क्योंकि इसे पढ़ने की स्वतन्त्रता का अभिशाप हमें ढोना है और बस। कुछ कहने की स्वतन्त्रता भी हमें प्राप्त है, पर उससे क्या कुछ होता है! जिससे होता है वह स्वतन्त्रता या अस्वतन्त्रता की रूढ़ियों की पर्वाह नहीं करता, वह एक राष्ट्रव्यापी दंभ है, सर्वसुलभ और सरल सुगम मीडियाक्रिटी है, नए से नए नारे, गढ़ने की क्षमता है, ईमानदार अनुभूति की भोंडी नक़ल उतारने की सिद्धहस्तता है।

जैसा मैंने ऊपर कहा है, शाश्वत, सर्वव्यापी, प्रवाहमान समय में से एक टुकड़ा समय मेरे हाथ आता है या इतना स्वीकार करूं कि समय को टुकडा टुकड़ा होते देख मुझे विद्रूप सुख जैसा कुछ अनुभव होता है क्योंकि मैं अपने आसपास भटकने वाले टुकड़े को लेना अहानिकर समझता हूँ। मैं अपने इस टुकड़ा समय से रूठ सकता हूँ, झगड़ सकता हूँ, इसे गाली दे सकता हूँ। मैं इसे कभी–कभी अपने वाक्छल से निरुत्तर भी कर देता हूँ। मुझे सुख मिलता है, यद्यपि मुझे मालूम है कि यह टुकड़ा भी मेरी सादगी पर हँस ही देगा क्योंकि थोड़ी देर बाद यह उछल कर अपने उस सर्वव्यापी दादा समय से मिल कर एक हो जाएगा जिसकी एक रोबीली दहाड़ से मैं चुप हो जाऊँगा ।

•

लेखन : कारण – अकारण

कविता लिखने के मेरे कारण मेरे अन्य सहकर्मियों से इतने अलग या विचित्र नहीं कि आपको उनकी प्रमाणिकता या मेरे इरादे की ईमानदारी पर शक हो, या फिर आप इसे मेरा बड़बोलापन कह कर छोड़ दें। मैं भी तो ऐसा कुछ कहना नहीं चाहूंगा कि जिससे आप मेरे बारे में ऐसी कोई भावना बना लें, क्योंकि मैं समझता हूँ कि अब तीस पैंतीस बरस लिखते रहने के बाद मैं ऐसा कोई दावा कर नहीं सकता जो मैं था नहीं, मेरी लिखत उसकी गवाही देगी और न अब ऐसा कुछ विचित्र हो जाने का स्वप्न देखता हूँ। जितना पाया बहुत है। अपनी ओर से जितना दे सकता था, दिया। दिया तो किसी पर अहसान नहीं किया। लिखना मेरी सांस्कारिक मजबूरियों के कारण हुआ, किन्ही अनजाने ऋणों से मुक्ति पाने के आन्तरिक दबावों के कारण हुआ, शरीर और मन की रचना के अव्याख्येय कारणों से हुआ। मन के ग्रहणशील होने के कारण क्या थे, इस प्रश्न का उत्तर मैं क्या दूँ? शायद कोई आलोचक या मनोविद् भी पूरी तरह से न दे सके।

मन के पिछवाड़े जो सुगबुगाता रहता है, वह बाहर आए, प्रकाशित हो, इसके अलावा क्या महत्वाकांक्षा हो सकती है, मुझ जैसे हिन्दी के हज़ारों ज्ञात अज्ञात लेखकों में से एक (यश–भीरु ?) लेखक की; भले ही यह लेखक वर्षों इस देश के एक अपरिचित कोने में मन में हिन्दी के प्रति अन्धा सा समर्पण भाव लेकर लिखता रहा हो, स्थापित व्यवस्था की घोर उपेक्षा के बावजूद । बस प्रेमचन्द की

नक़ल पर इतना कहने की जुर्रत करता हूँ कि दो एक अच्छी किताबें लिख छोड़ने के अलावा मेरी कोई तमन्ना नहीं। लिखने का कुछ भी उद्देश्य बतायें, इतना सब लिखारी मन ही मत चाहते हैं कि हमारी बात और भावना दूसरों तक पहुँचे (कुछ पैसा मिले तो अवांछनीय नहीं) तथा कहीं कोई पढ़ने लिखने वाला हमारा नाम ले, कहीं ज़िक्र करे। थोड़ी स्वीकृति, थोड़ा नाम मिले और यदि थोड़ी प्रेरणा का कारण बन सकें तो क्या कहने ? मैं खुद को इस चाहना का अपवाद घोषित करने के किसी दंभ से बचने की कोशिश में हूँ ।

कविता के अतिरिक्त कहानी, नाटक आलोचला आदि में क़लम आज़माने के अनुभव से गुज़रते हुए मैं ने इन विधाओं के साथ की अन्तर्क्रिया को देखा भोगा है और मुझे लगा है कि एक बहुत सूक्ष्म सी लकीर है, जो इन्हें अलग करती है। मुझे कविता राहत के क्षण देती है राहत अर्थात् स्वयं के साथ होने की निरपेक्ष–प्राय स्वच्छंदता जबकि अन्य विधाएं कम से कम तब तक बांधे रखती है जब तक कि आप उनके रचना–आयास तथा आयास के अनुवर्ती प्रभाव से मुक्त नहीं होते। इतना कहूं कि मैं अभी कविता के किसी वैचारिक आधार की बात नहीं कर रहा। प्रेरणा के अनगढ़ अप्रत्याशित स्रोतों को छोड़ कर मुझे कविता के लिए कविता से बाहर किसी स्रोत का इंगित भी मंजूर नहीं, क्योंकि वह गढ़ा गढ़ाया तथा आयोजित होगा। आयोजन रचना से अनायासत्व लेकर उसे कृत्रिमता और चालाकी देता है, जिस तरह प्रायोजन उसे शातिर बनाता है। इसलिए मेरे जो साथी इन दो में अन्तर नहीं करके, किसी छद्म मुहावरे में, जिसका प्रयोग हिन्दी में इन दिनों धड़ल्ले से हो रहा है, एक को कुछ ज़्यादा ' देशी' या ज़्यादा 'पूर्वी' या 'एशियाई' या किसी तथाकथित 'तीसरी दुनिया के उपयुक्त' मानकर चलते हैं, उनसे मैं क्या वार्तालाप कर सकता हूँ ? प्रायोजन आज हमें पश्चिमी और इसलिए दुश्मनाना लगे तथा आयोजन की सूक्ष्म पकड़ को हम अनदेखा करें, इससे मैं पर्याप्त सचेत रहने की ज़रूरत महसूस करता हूँ ।

चूंकि मैं कविता के अलावा अन्य विधाओं में तथा हिन्दी के अलावा कश्मीरी में भी नियमित तौर पर लिखता हूँ, इसलिए इस तरह के प्रसंग से मेरा वास्ता पड़ता रहता है, क्योंकि ऐसे प्रश्न कश्मीरी में भी – यद्यपि कम – उठते और उठाए जाते रहे हैं। मुझे यह देखकर खुशी नहीं होती कि आज आयोजन का प्रबन्ध बड़ा सूक्ष्म तथा व्यापक है और तुर्रा यह कि जानकर तथा अनजान, दोनों तरह के आयोजित लेखक आयोजन के प्रबन्धन को गाली दे रहे हैं। हमें खुद को याद दिलाने की ज़रूरत है कि चालीस पैंतालीस साल पहले नए नए खेमे खड़े

करते लेखक–आलोचक हर 'अ–खेमा' साहित्यिक उपक्रम के पीछे किसी 'विदेशी' षड्यन्त्र की सम्भवना देखते थे। विडम्बना यह कि तब खुद इन तथाकथित ज्वलनशीलों का परदेशी प्रायोजन किसी से छिपा नहीं था, जगज़ाहिर था । दुख है कि उस प्रायोजन के सोते सूखने के बाद उन कसौटियों को सनातन सत्य साबित करने की ज़िम्मेवारी आज भी कुछ ने ले रखी है और उसे निभा रहे हैं। कोई ताज्जुब नहीं कि इस ज़िम्मेवारी के बोझ तले दबा बेचारा हिन्दी लेखक कोई कालजयी रचना नहीं दे पा रहा । मैं क्या कोई भी जो हिन्दी से बाहर देखने तथा तुलना करने की स्थिति में हैं, तथा इस भाषा के हित के प्रति संवेदनशील हैं, वह अभाव के इस दंश को ज़रूर महसूसता होगा । तुलना के लिए हमें बहुत दूर नहीं जाना होगा। पिछले दस बारह साल में विभिन्न सम्मानित चर्चित कृतियों को गौर से देखेंगे तो आप अनायास तुलना करने लग जाएंगे। विदेशी साहित्य को देखते हैं तो अभाव और भी खटकता है। खैर, जो भी हो, अभी यही हमारी वस्तुस्थिति है और मैं भी इसी में खड़ा होता, लडखड़ाता, मौजूद हूँ ।

•

प्रबन्धान

मति जो जड़ हो गई थी
अभ्यास करते करते हो गई सुजान,
सीख गया मैं
आजकल दुर्लभ छाया का
प्रबन्धन,
अखबार झीना है तो क्या
उसका तम्बू बनाकर अंदर बैठता हूँ
यों दिन बिताने का जुगाड़ हो जाता है,
शब्दों की लगती है झड़ी
तो मन में
खीजे हुए बीज भी अँकुराते हैं
तम्बू के घाम में ख़बरें पककर
सपने बनती जाती हैं।

•

विषम समता के सूत्र *

किसी भारतीय भाषाओं सम्बन्धी रचना संकलन से अनायास उम्मीद की जाती है कि विविध साहित्यों में मौजूद मूलभूत एकता को उभारा गया हो। इस उम्मीद के पीछे एक प्रमेय यह है कि विभिन्न भाषाओं के बावजूद भारतीय साहित्य की आत्मा एक है । प्रमेय किसी हद तक सही है क्योंकि साहित्य सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का सहज साधन है और भारतीय प्रायद्वीप एक ही सांस्कृतिक इकाई है, जो विभिन्न धर्मों तथा जातियों के बावजूद मूल मानव सरोकारों को तकरीबन एक ही से एटीट्यूड से समझता है। धर्म या जाति का उपादान, भाषा को दरअसल शब्दावली तथा धारणा–भण्डार से भर देता है और साहित्य लोगों की 'ठेठ' लोगों की (निरपेक्ष मनुष्यों की) विचार–भावना सम्बन्धावली बतलाने के लिए इस शब्द तथा धारणा (कन्सेप्ट) का सटीक प्रयोग करता है। भाषा की बात अलग है । वह धर्म या जाति के आलवाल से बनी ठनी दिखई देती है, पर इन दोनों से स्वतन्त्र होती है तथा मात्र सांस्कृतिक प्रक्रिया की उपज होती है, जिसके निर्णायक तत्व भौगोंलिक इकाई के घेरे में निर्धारित होते हैं।

भौगोलिक सीमाएं भारत को एक कम्पैक्ट इकाई बनाती हैं, भले ही वह समांगीकृत (होमोजिनाइज़्ड) न हो। न होने की वजह धर्म, जाति और राजनीति के सार्वभौम प्रभाव का अभाव है। प्रभाव की अपेक्षा अभिव्यक्ति का 'मेनिफेस्टेशन' कहना चाहिए । यहाँ धर्म स्थायीकृत हो गया है और धर्म को संस्कृति का केवल

---

* आधार : भारतीय कविताएँ (1983) सं0 बालस्वरूप राही, ज्ञानपीठ ।

पर्याय समझने से भारतीय जीवन की मूलभूत एकता ढूंढना दुस्साध्य हो सकता है, कहीं तो यह एकता जैसी चाही वैसी सिद्धि, (विशफुल थिंकिंग) हो जाती है। पर ऐसे भी गोताखोर हैं जो किनारे बैठे ही पा लते हैं। प्रस्तुत संकलन के सम्पादक को इस एकता का मूलसूत्र – 'भारतीय आध्यात्मिकता' मिला है, जो भारतीय दर्शन के समष्टि प्रेम में व्यक्त होता है और 'वसुधैव कुटुम्बकम' की इच्छा में मौजूद है। क्षणाभास के बदले निरन्तरता बोध । ' हमारे विश्वास में अद्वैत और निरन्तरता बोध भारतीय साहित्य की दो ऐसी पहचानें हैं जो भारतीय साहित्य को भी विशेष चरित्र और स्वरूप प्रदान करती हैं। " इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन भारतीय साहित्य में अद्वैत और निरन्तरता बोध जीवन मूल्य थे। पर यह भी सच है कि इतिहास के संघर्षों ने इन्हें छिन्न–भिन्न किया, ये परिवर्तित, विकृत और विभक्त हुए। शाश्वत सामूहिक जीवन–मूल्य शाश्वत विश्वासों तथा सामूहिक जीवन पद्धति के इखर बिखर जाने पर क्षणिक तथा व्यक्ति–परक हो गए। यों तो भारतीय धर्म साधना व्यक्ति तथा उसके आराध्य के बीच के सम्बन्धों की व्याख्या करती रही है, इतिहास से गुज़रते हुए इसका विकास जीवन के बिखराव के कारण और वैयक्तिक तथा एकांतिक हो उठा । इससे अजाने ही यह लाभ भी हुआ कि 'यूनान मिस्र, रोमा' की तरह हमारा सामूहिक आलवाल छिन्न–भिन्न होने के बाद भी हम जहां से मिट नहीं गए ।

धर्म के जिस तथाकथित बाह्य–पक्ष या बहिरंग या आडम्बर की निन्दा करते हम नहीं थकते उसी से हमारा नामोनिशान बाकी है। यह बहिरंग मूलतः एक है यद्यपि इतना विविध तथा परस्पर विरोधी लगता है। तमाम विरोधों तथा विविध्ाता के बावजूद यह बहिरंग मूलतः एक है और इसकी एकता का आधार भौगोलिक सीमाओं में मनुष्य मात्र के निस्सर्ग की एकता है। निसर्ग आकांक्षाओं तथा भीतियों से संरचित और परिचालित होता है। आकांक्षाओं से प्रेरित होकर स्वार्थ के घेरों में सिमटता है और भीतियों के कारण समाजीकरण के दबावों में खुलता है। दोनों सूरतों में यह एकता तथाकथित बहिरंग धार्मिक एकता है पर वस्तुतः है यह अन्तरंग नैसर्गिक एकता। इसीलिए भारतीय साहित्यकर्म विदेशी आक्रमण जनित अनिश्चितता में रुद्ध हुआ और शान्ति के वातावरण में 'भावना को स्मृत' करने के बिना ही, उससे तकरीबन निरपेक्ष रह कर प्रवाहित हुआ। भक्ति साहित्य ने विगत राजनीतिक उथल–पुथल का ज़िक्र नहीं किया, शिकायत नहीं की । उन्नीसवीं सदी से पश्चिमी प्रभावों को स्वीकारता रहा और आगे चलकर बीसवीं सदी में इसी हवा में सांस लेने की प्रच्छन्न तमन्ना को 'आधुनिकता' बतलाया ।

भारतीय रचना का इतिहास इस बहुरूपता तथा विविधता का इतिहास है। बदलने के प्रति खुलापन (और वह नैसर्गिक सत्य भी है) जीवन की निशानी है। आज की प्रतिनिधि भारतीय कविता इसी परिवर्तन जन्य दृष्टि से स्थिति में पैठती है, तो महत्वपूर्ण हो उठती है।

' किसी अलक्षित सूर्य को / देता हुआ अर्घ्य शताब्दियों से इसी तरह/गंगा के जल में / अपनी एक टांग पर खड़ा है या शहर / अपनी दूसरी टांग से बिल्कुल बेखबर ' (केदारनाथ सिंह : बनारस)

' बाबू आप मुझे जानते तो नहीं हैं/ पर मैं आपकी जाति का हूँ/ जाति निर्मूलन दल का उम्मीदवार हूं / ....' (बीथि भीमन्ना : नाखून के निशान)

मेरे अपने लोगों का यह आर्तनाद आक्रोश और पुकार
अखबारों पत्रों और गपोड़ों से कान पर आते हैं बेसुरे स्वर
मंत्रालय की भक्कम भित्ती के पीछे बैठे बुतों को थोड़ा काम देते हैं।
योजनाओं के कागज़ों पर घोटे हुए अक्षर पत्थर ही बनते हैं।
(केशव मेश्राम – अक्षर पत्थर ही बनते हैं)

फीलपांवी भाषा वाली नहीं, सादगी, पर तेज़धार वाली कविता परिवर्तित काव्य विकास का परिचय देती है। इसमें निरन्तरता बोध नहीं भी हो पर परिपक्व दृष्टि ज़रूर है। यह भी सच है कि आज रची जा रही कुछ कविता अनजाने ही यात्रा के दौरान बीच अटकी लगती है। बहुत हुआ तो इस अटकाव के प्रति चेतन है तथा इसका रोना रो रही है। स्वच्छन्दतावाद तथा प्रगतिवाद भारतीय साहित्य की इतिहास यात्रा के मील के पत्थर है। इन पर काफी व्यंग्य हुआ पर अब हमें इस बचकानी ईर्ष्यालु या खीज की मानसिकता से बाहर आना चाहिए नहीं तो ये पूर्वग्रह या आब्सेशन भी बन सकते हैं। .... [1]

मुझे विश्वास था और मुझे मेरे विश्वास ने लूट लिया / जिन खिड़कियों से मैं करता था/वासंती हवा की प्रतीक्षा/कठिन मांघ की धुंध ने उनके गिर्द बुन लिया है झालर .... (चमनलाल चमन : विश्वास)

तुम्हारी हिजरत के सारे मौसम गुज़र चुके हैं / यहां से आगे की मंज़िलों का ख्याल छोड़ो / ये मुल्ज़िमों–से सजे कटघरे / किसी नुमाइश के वास्ते हैं। यही बहुत है .... (शहरयार : एक दोस्ती याद में)

समकालीनता की तेज़ गंधवाली कविताएं सहज ही स्पष्ट लहजे में

कथ्य प्रकट करती हैं जैसे अब्दुल बिस्मिल्लाह की 'चूज़े' या लालसिंह दिल की 'देशप्यार'। नहीं तो नएपन की ललक में कविता चुस्त फिकरेबाज़ी बन जाती है। यह स्थिति कश्मीरी के 'राही' में जैसी है गुजराती के सितांशु तथा कन्नड के लक्ष्मीनारायण भट्ट में भी वैसी ही है। इस दृष्टि से पूरी भारतीय कविता का परिदृश्य एक–सा है। यह और बात है कि इस परिदृश्य को उभारने में प्रस्तुत संकलन की सारी कविताएं सहायक नहीं होतीं। शायद प्रस्तुत परिप्रेक्ष्य में ऐसा सम्भव भी नहीं था। सम्पादक – चयनकर्ता के बीच समान अभिवृत्ति का सेतु ऐसा सम्भव बना देता। यहां पर कहीं–कहीं इस सेतु का अनस्तित्व आभसित होता है। हम चयनकर्ताओं की योग्यता तथा अनुवाद–कुशलता पर सन्देह नहीं कर सकते, पर कुछ सामान्य घेरों के बावजूद उनकी दृष्टि–एकता की अनुपस्थिति को महसूस ज़रूर करते हैं। घेरों की सामान्यता का संकेत खुद सम्पादक ने दिया है, जिसका ज़िक्र ऊपर किया गया, अर्थात् अद्वैत तथा निरन्तरता। पर इस प्रकार की सीमा से यह भी डर था कि भारतीय प्रायद्वीप की विकासमान और परिवर्तनाक्रांत कविता का सही प्रतिनिधित्व न हो पाता। किसी हद तक ऐसा हुआ भी नहीं है। तथापि प्रयत्न और उपक्रम की ऐसी शुरुआत चूंकि आज तक बहुत कम हुई थी, इसलिए यह संकलन श्लाघ्य है और भारतीय ज्ञानपीठ प्रशंसनीय।

•

श्रद्धा

जब पीपल ने अपनी जड़ें
दीवार से नीचे लटका दीं
तो वीराने आंगन का भुतहा रखवाला
दुविधा में था ––
नीचे आने दूँ तो
जड़ें फैल जाएंगी
और पीपल उगेंगे
कैसे कैसों का जमावड़ा
पीपल के तने को घेर लेगा
खो जाएगा आंगन
दीवारों को किसके सहारे छोड़ूं
जो मैं अपने आंगन को खोजने निकलूं।

•

समकालीनता बनाम प्रामाणिकता: आधुनिक कविता में वामचेतना पर कुछ नोट्स

जगदीश चतुर्वेदी अकविता की प्रासंगिता तथा स्वरूप की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि "हमें प्रतीक्षा करनी है, अनवरत प्रतीक्षा। वी आर वेटिंग फार द गोदो ।"* और यह कि अकवि 'मात्र संघर्ष के लिए लालायित है जो उसकी अतंडियों से लेकर मस्तिष्क तक में बौखलाहट पैदा किए हुए है।" आज की कविता

---

* "द गोदो – यह प्रयोग गलत नहीं माना जा सकता (क्योंकि मूल नाम है : वेटिंग फॉर गोदो) और न ही लेखक के अज्ञान की उपज। स्पष्ट है कि 'द' अर्थात् उसी गोदो के इन्तज़ार की बात करते हैं जिसका पहला उल्लेख बेकेट ने किया और जो एक अनेकार्थक, बल्कि निरर्थक भी, व्यक्तिवाचक नाम है। अकवि उसी अनेक सम्भावना–संकेतक गोदो की प्रतीक्षा करते हैं और अनवरत प्रतीक्षा को अपनी उपलब्धि कहते हैं, जिसकी प्रतीक्षा बेकेट के नाटक के चरित्रों के लिए न आशा है न उपलब्धि और न ही वर्तमान कटुता से पलायन।" वह उनके लिए माध्यम मात्र है योरोपी नैराश्य और कनफ्यूज़न, सामाजिक वैषम्य तथा असफल उपक्रमों के प्रति अपनी उदासीनता प्रकट करने का । अकवि उसी योरोपी गोदो की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस प्रकार उसे भारतीय संदर्भ में जिलाना चाहते हैं। और यह संदर्भ यहां "सन साठ के आस–पास तमाम देश के बुद्धिजीवी महसूस कर रहे थे," यह यहां की 'परिवर्तित मानसिकता' की उपज है। (अकविता : मोह भंग से साक्षात्कार : जगदीश चतुर्वेदी) समकालीन कविता : सं0 शुभदर्शन, मीनाक्षी / पंजाब हिन्दी परिषद् मजीठा अमृतसर / 1981

जीवन के अत्यन्त समीप दिखाई देती है।" " वस्तुतः अकविता ने आज के जीवन की विसंगति को पूरे आवेग के साथ महसूस कर काव्यसृजन के नए आयाम स्थापित किये हैं", " वह समाज से मात्र गहरी खीझ पाता है क्योंकि सामाजिक मूल्य उन लोगों के हाथों में हैं जो अबौद्धिक हैं, स्वार्थी और धूर्त हैं।" इससे स्पष्ट है कि अकवि ने अपने या कहें कि बुद्धिजीवियों के संवेदनशील सर्जक के शत्रु को पहचान लिया है जिनके प्रति वह संघर्ष करने को लालायित है। उसने साहित्य की तथा साहित्यकार की भूमिका स्पष्ट समझ ली है। पर वह इसी आवाज़ में मोहभंग से त्रस्त होने की बात करता है । संघर्ष और जीवन को निकटता तथा प्रामाणिकता से जीने से उसमें जो युयुत्सा की भावना पैदा हो गई थी, वह मात्र शब्द–मोह होकर रह जाती है। संघर्ष अर्थात एक रोमांटिक पलायन। आत्मतुष्टि और अहम्मन्यता उसे बड़बोला बना देती है। वह ' बादशाह से ज़्यादा वफादार' होने की मुद्रा में कहता है कि " आज सार्त्र या कामू की दार्शनिक विवेचनाओं के सिक्के मूल्यहीन हो गए हैं " और यह सामूहिक विद्रोह, जिसे मैं युगानपेक्षी मानता हूँ, उसी तरह नयी–नयी ऊल–जलूल चित्रमयता से संश्लिष्ट है, जिस तरह द्वितीय महायुद्ध के पूर्व सुरियलिस्ट युवा कवि कलाकारों के कृतित्व।" और ऐसे में विरोधों और अतिरंजनाओं की उत्पति होती है! कवि आश्वस्त है कि " यह तमाम विसंगतियाँ जिन्हें हम काव्य में साक्षात देख रहे हैं, उस तीसरे महायुद्ध की पीठिका की झलक भर है, जिसे तमाम विश्व के बुद्धिजीवी अनुभव कर रहे हैं।" ऐसे काव्य में साक्षात क्या दिख सकता है यह अकविता के पाठकों ने देख ही लिया है – "यहां मनुष्य एक साथ प्रेमी भी है, लौंडेबाज़ भी, हत्यारा भी और कबीर के पदों को तानपूरे पर गाने वाला चार्ली चैपलिन के अभिनय का एक कुपात्र बन कर जीने वाला जीता जागता आधुनिक ' मनुष्य ' शब्द से ज्ञात प्राणी ।" "अकवि के प्रत्येक कवि का अपना रचना संसार है – ' लुकमान अली' का संसार एक जीते जागते सामाजिक बुद्धिजीवी का काव्यजगत है जिसमें घृणा है, वितृष्णा है, समलैंगिक अनुभव है, रीतिक्रीड़ा और आध्यात्मिक कुसंगतियों से अरुचि है। घोर विरक्ति और पैशाचिक कृत्यों की बुनावट है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि अकविता में एक पंगु आक्रोश की अभिव्यक्ति हुई और अकवियों के न मानने के बावजूद यह कविता नयी कविता के कृत्रिम आभिजात्य की प्रतिक्रिया थी। इसने सभ्यता के झूठे आवरणों को असामाजिक मुद्रा अपना कर हटाना चाहा । पर, किसी भी सामाजिक व्यवस्था को निष्क्रिय रुचिहीनता से जोड़ा नहीं जा सकता और तोड़ पाने की अक्षमता का भान जो नैराश्य और दैन्य पैदा कर सकता है, उसकी अभिव्यक्ति अकविता में हुई।

अकविता व्यवस्था के प्रतिपक्ष में ज़रूर थी पर इसने लगातार बढ़ते अंधकार को ही सत्य माना। विश्वास इसका इन्कार का रंग लिए था पर इन्कार को फलीभूत करने का मनोबल नही था । इसलिए अकविता की भाषा नयी कविता से भिन्न होकर भी अपनी कोई स्वतन्त्र गरिमा पैदा न कर सकी। इसने भाषा के तथाकथित गठित पक्ष को प्रयोग की रवानी दी पर उसे नया संस्कार नहीं दिया। और यह काम बहुत हद तक 'विचार' कविता ने किया ।

'विचार' कविता के पक्षधर, मानते हैं कि कविता में 'ज्ञानात्मक संवेदना' अर्थात् जन–हितापेक्षी विचार की उपस्थिति की पहली चेतना आठवें दशक में हुई । इस कविता का उदय वस्तुतः अकविता की नैराश्य–नियति–भावना की प्रतिक्रिया या कहें कि उस भावना के अस्वीकार के रूप में हुआ । इसने ऐकांतिक व्यक्तिवाद का विरोध किया और जनचेतना को व्यक्ति की अस्मिता का रक्षक बताया। " यह जनचेतना राजनीति के अराजक अहंभाव से भी टकराव ही है, साहित्य की यह चेतना अविभाज्य व्यक्ति और उसकी अस्मिता की प्रहरी है।" साफ ज़हिर है कि विचार कविता ने अकविता को उसके सामाजिक सरोकार लौटाने चाहे, क्योंकि इन ही से विरोध तथा आक्रोश की सिद्धि हो जाती है। " कविता का कार्य उसका पक्ष, हित समझाने से लेकर परिवेश की पेचीदगियों, व्याधियों, शोषण की प्रणालियों, हिंसा की रीतियों और अस्तित्व को बचाने के तरीकों से भी परिचित कराना हो गया है।" यह स्पष्ट ही प्रतिपक्ष की सचेत भूमिका है। विचार कविता ने संघर्ष को सार्थकता देकर आधुनिक हिन्दी कविता के विकास में उस कड़ी को फिर उठाया जिसे प्रगतिवादी कविता ने छोड़ा था मगर इस दौरान जिसे मुक्तिबोध, धूमिल, जगूडी जैसे कवि उठाए थे। विचार कविता के पुरोधाओं ने जगह–जगह इन कवियों को उद्धृत किया और इनसे अपनी कविता का आन्दोलनात्मक आधार दृढ़ करना चाहा। मगर इससे समस्या का कविता, की सही भूमिका की खोज का केवल अतिसरलीकरण हो गया। उदाहरण के लिए रमेश गौड़ की कविता – ' यह दीगर बात है कि आपका बायां हाथ कुचला पड़ा है, और आपके दायें हाथ को इसका अहसास तक नहीं है।' की व्याख्या यों की – " वर्तमान संदर्भों में राजनीति ने दायें और बायें दो हिस्सों में लोगों को बांट रखा है। इसमें जनशक्ति बटी है।* जबकि कविता में स्पष्ट ही दायें हाथ की धृष्टता और संवदेना शून्यता की ओर सचेत इशारा है। बायां हाथ हमेशा कुचला जाता है और धूमिल के शब्दों में वह दायें हाथ की नैतिकता से ग्रस्त नहीं, मल धोने को भी तैयार रहता है। बायां जनहित को अपना हित, जन की भावना को अपनी भावना और जन के दर्द को अपना दर्द मानकर चलता है। वह यथास्थिति नहीं स्वीकार करता, परिवर्तनकामी

होना है। यदि विचार कविता " जन के विपक्ष में पड़ रही सम्पूर्ण राजनीति या राजनीति की सभी रंगतों का अस्वीकार है तो उसे जन की पक्षधर राजनीति स्वीकार होनी चाहिए। हम नहीं जानते कि किसी राजनीति को अस्वीकारते हुए हम एक और राजनीति सहज ही स्वीकारते होते हैं। यदि 'विचार' 'शर्म' नहीं तो इस विचार की सामाजिक रंगत से कैसी शर्म । प्रगतिशीलता प्रगतिवादी उलटफेर और क्रान्तिकारी की कविता नहीं बल्कि एक सतत जुझारू मुद्रा है।

आधुनिक कविता पर इस बहस को हम 'समकालीन कविता : प्रामाणिक दस्तावेज़ ' में उठाए गए मुद्दों पर केन्द्रित करते हैं। किताब दो हिस्सों में बटी है – लेखों वांले हिस्से में 'अकविता', 'समकालीन चेतना और विचार कविता', 'समकालीन लम्बी कविताएं', समकालीन कविता : पहचान और दिशा' तथा 'समकालीन कविता में उभरता सौन्दर्य शास्त्र' नामक पांच लेख संकलित हैं, जिन्हें एक सम्पादकीय एक सूत्र में समेटने की कोशिश करता है। कविताओं वाले हिस्से में सत्ताईस जाने पहचाने और कुछ कम जाने पहचाने कवियों की कविताएं हैं। पर यह तो अनुक्रमणिका का विभाजन है। पुस्तक के भीतर दो हिस्से हैं । पहले तीन लेखों के साथ केवल नौ कवियों की कविताएँ हैं जबकि शेष अठारह कवियों को वास्तव में समकालीन कहा गया है। उनकी भूमिका के रूप में डॉ0 मदन गुलाटी ने इस प्रकार की कविता का सौन्दर्य शास्त्र रेखांकित किया है। चूंकि पुस्तक का संकलन समकालीन कविता का स्वरूप उभारने के लिए किया गया है इसलिए केवल बाद के अठारह कवियों को भी यह इष्ट है कि नयी कवितोत्तर कविता को 'समकालीन कहा जाय। साफ ज़ाहिर है कि इसमें 'अकविता' तथा 'विचार कविता– नामक दो पूर्व प्रचलित (करीब तीन दर्जन अन्य ऐसे ही वामांदोलनों में से) काव्यन्दोलन ऐसे हैं जिन्हें न ही एकदम भुलाया जा सकता है और न ही झुठलाया, इसलिए उन पर के दो लेख संकलित करके और उनके साथ कुछ कवियों को रख के वस्तुतः 'असली' 'समकालीन कविता' पर आया गया है। और वह है कृष्ण कमलेश, परवेज़, खुबालकर, निदारिया, अनुभूति, शुभदर्शन, अंजलि आदि कवियों की कविता । यह भी मुदआ लगता है कि समकालीन कविता को नयी कविता की आनुवंशिक विचार कविता तथा अकतिवा की श्रृंखला से सीधे जोडा जाय, और इसे एक बाज़ाब्ता आन्दोलन माना जाय। मगर इस दृष्टि से एक विरोधाभास से सम्पादक की दृष्टि ग्रस्त है। सम्पादकीय में वे 'अकविता' 'विचार कविता' तथा –'सहज कविता' का अनुकालिक क्रम बतलाकर लिखते हैं कि " ये कुछ प्रमुख आन्दोलन थे समकालीन कविता के जिनकी हमने चर्चा की "। अर्थात् समकालीनता नयी कवितोत्तर काव्यस्थिति को कहा जा सकता हैं, क्योंकि "1963

में जगदीश चतुर्वेदी ने 'प्रारम्भ' काव्य संग्रह संकलित करके सुप्त साहित्य को पहला झटका दिया। . . दूसरा झटका 'अकविता' पत्रिका शुरू करके। एक बात इस आन्दोलन में स्पष्ट थी और वह थी नई कविता का विरोध।" (पृ0 ख) गर डॉ0 राजपाल के लेख में स्पष्ट मन्तव्य हे कि सहज कविता या विचार कविता केवल नाम थे, वस्तुतः समकालीन कविता को " हमने एक काव्य–आन्दोलन के रूप में स्वीकार किया है जिसका प्रारम्भ हम सन् 1960 के पश्चात से मानते हैं।" (पृ0 57) " आधुनिक हिन्दी कविता के विकास में छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा नयी कविता के बाद समकालीन कविता का उल्लेख करना अपेक्षित है।" मगर जो नाम नयी कविता के बाद चल पड़े और उनके आविष्कारकों ने (खुद को या) नाम को स्थापित कराने के लिए काफी प्रयत्न किए, उनको यह पुराना, पर नवीकृत नाम कैसे समोये इस समस्या का हल डॉ0 राजपाल यों देते हैं : "नयी कविता, अकविता तथा विचार कविता के संस्थापक कवि भी स्वयं को समकालीन मानते हैं। " फिर सत्य क्या है ? उन कवियों को अकवि, विचार कवि आदि ही रहने देना या उनसे इन नामों को झटक कर उनकी पूर्वस्वीकृति के बिना ही, उन्हें 'समकालीन कवि' का लेबल देना। यह द्विविधा बढ़ती है जब वे कहते हैं कि 'समकालीन कविता में ऐसे कवियों का उल्लेख किया जाता है जिनका सम्बन्ध नयी कविता के विविध आन्दोलनों से रहा है। निष्कर्षतः ये सब नामांदोलन मात्र हैं, समकालीनता के समेत सब के सब नयी कविता के ही रूपान्तर हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि नयी कविता ने कथा और शिल्प का जो आधार तैयार किया, वह उन सब आन्दोलनों का ज़िम्मेवार था जो बाद में चल पड़े। नयी कविता खुद कुछ ऐतिहासिक विरोधों पर खड़ी थी और कुछ सशक्त व्यक्तित्वों ने उसे अपने निजी पूर्वाग्रहों की शर्त पर विकसित किया। प्रगतिवाद का विकास होते होते कविता में नारे ऐसे आने लगे कि जैसे सामाजिक क्रान्ति की मंज़िल बिल्कुल पास हो और उल्लास में कवि नाच उठे हों। चूंकि स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ–साथ देश पर नवसाम्राज्यवाद की जकड़ मज़बूत होती गई तथा देशी पूंजीपति शासन की सुरक्षा तले सामाजिक प्रगति की शक्तियों को रुद्ध करने में सफल होने लगे, देश हताशा तथा कुण्ठा से ग्रस्त हो गया। नयी कविता ने सामाजिक कुव्यवस्था के इस रोग का मूल जानने के स्थान पर इसके ऊपरी संकेतों को ही यथार्थ माना। इसके प्रति सामूहिक प्रतिरोध का अभाव था, अतेव इसका बोध वैयक्तिक कुण्ठा में ढल गया और नयी कविता का स्वर ऐकांतिक, वैयक्तिकता, निराशा और निष्क्रियता का हो गया। जहां भी नयी कतिवा में आशावादिता या आत्मविश्वास या परिवर्तन की कामना प्रतिबिम्बित हुई, वहां वह छायावादी नवोन्मेष (जो

स्वातन्त्र्य संग्राम में भाग लेने की व्यक्तिगत भावनात्मक प्रतिक्रिया थी) के समान्तर जाती हुई दिखाई दी । मगर इस सब के बावजूद नयी कविता को यह श्रेय देना ही होगा कि इसने व्यवस्था के प्रति अस्वीकृति प्रकट की और (बहुत कमज़ोर ही रही) प्रतिपक्ष की भूमिका निभाई। शब्द तथा शिल्प के क्षेत्र में नयी ज़मीन खोज निकाली। ऐकांतिक वैयक्तिकता जब उसके लिए पूर्वाग्रह और ग्रन्थि–सी बन गई तो इसमें अहम्मन्यता बड़बोलेपन और असामाजिकता ने घर कर लिया। 'अकविता' ने नयी कविता के उसके छायावादी बाने को झटक तो दिया मगर अहम्मन्यता तथा असामाजिकता का खूब विकास किया। विचार कविता ने असामाजिकता का विरोध किया और सामाजिक सरोकारों के प्रति लेखकीय प्रतिबद्धता पर ज़ोर दिया। इस लिहाज़ से हम देखते हैं कि प्रगतिवाद से लेकर ये सब काव्यान्दोलन एक सचेत प्रयास में लगे रहे कि कविता को उसकी सही भूमिका की दिशा में विकसित किया जाय। इतना हम कह सकते हैं कि उस 'सचेत प्रयास' को समझने की कोशिश 'समकालीन कविता : प्रामाणिक दस्तावेज़' में हुई तो है पर इसी आधार पर एक नामान्दोलन चलाने की ललक ने इस कोशिश को कमज़ोर कर दिया है।

प्रश्न है कि वह सचेत प्रसाय क्या था ?

नयी कविता प्रगतिवादी अतिवाद की प्रतिक्रिया थी मगर इससे प्रगतिशीलता या कहें कि कविता की प्रगतिशील भूमिका खत्म नहीं हुई । उसे पहचानने तथा स्वीकारने के रवैये बदले। विचार कविता ने या अन्य नामान्दोलनों ने इस को पहचाना और खोजा मगर उनको इस खोज की अपेक्षा खोज की प्रक्रिया से मोह हो गया। वे व्यवस्था के प्रतिपक्ष में खड़े होकर धीरे धीरे फिर व्यवस्था की ओर सरकते गए। रचना तथा प्रकाशन में वाणिज्य की घुसपेठ में वे भी शामिल होने को तरसते रहे। यही वजह है कि आन्दोलन रहे नहीं। पर इससे इनकी मूल चेतना का महत्व कम नहीं हो जाता । और अगर ठीक से देखें तो वह थी झूठ, दंभ, भ्रष्टाचार, नैतिक पतन, सामाजिक असुरक्षा के प्रति विरोध की अभिव्यक्ति। यथास्थिति के अस्वीकार की अभिव्यक्ति । कुछ आन्दोलनों ने राजनीतिक पक्षधरता से घोषित रूप से असम्पृक्तता जताई मगर ऐसा करते हुए वे किस प्रकार के राजनीतिक प्रचार से अभिभूत थे, वह जानने की उत्कंठा उनमें नहीं थी। राष्ट्र के स्तर पर अहिंसा धर्मनिरपेक्षता, हर प्रकार की विचारधारा के सहअस्तित्व आदि का जो विचार–जाल बुना गया तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जिसने तथाकथित गुटनिरपेक्षता का रूप लिया, वही देश के अन्दर 'राजनीति–निरपेक्षता' की धारणा

बन कर उभरा। कवि के 'स्वयं में पूर्ण रचयिता इकाई' होने की परिकल्पनाओं की सृष्टि का ज़िम्मेवार भी वही था। नयी कविता तथा अकविता की अहम्मन्यता और विचार कविता की राजनीति विमुखता का नारा इसी लिए खोखला लगता है। विरोध तथा अस्वीकार इनमें है पर इस अस्वीकार को वे सही नाम देने से हिचकिचाते हैं और यही प्रगतिवादी'उत्तर काव्य की मूल चेतना है। इसे हम वामपंथी चेतना कह सकते हैं।

आलोच्य पुस्तक में डॉ0 मदन गुलाटी का लेख इस दृष्टि से सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण है। आज की कविता का सौन्दर्य शास्त्र चर्चित करते हुए वे आधुनिक कविता के मानवीय अभिप्राय तथा मानवविकास में उसके ऐतिहासिक योगदान पर ज़ोड देते हैं। कवि के सामाजिक सरोकार ही उसे समकालीनता को समझने, परखने की दृष्टि देते हैं। " यह सही है कि व्यक्ति का मतस्तत्व ही कलात्मक मूल्यों का सृजन करता है, परन्तु व्यक्ति की अन्तरचेतना सामाजिक यथार्थ के अन्तरविरोधों की तात्विक अन्तःक्रिया के पूर्ण एवं संगठित व्यापारों से आकार ग्रहण करती है ।" (समकालीन कविता में उभरता नया सौन्दर्य शास्त्र) सामाजिक प्रयासों में तथा परिवेश के आलवाल में स्थित व्यक्ति–कवि की समाज–चेतना और भागीदारी की अभिव्यक्ति में सही भाषाई मुहावरे की तलाश कविता को समकालीनता का गुण प्रदान करती है। और अगर समकालीन कविता (आन्दोलन वाली कविता नहीं) के भीतर किसी अभिव्यक्ति की छटपाटाहट मिलती है तो वह वाम चेतना की है। जब कवि ने इस चेतना को नाम देने से बचना चाहा तो किसी सुविधाजनक आन्दोलन के घेरों में खुद को बंधा पाया। अपने देश में वामचेता बुद्धिजीवियों की एक ही तो सफलता है – वह यह कि वह हर कहीं मौजूद हैं पर स्वयं अपना सामूहिक प्रयास न कर पाकर जहां हैं वहां यथास्थिति की भयानकता का भास कराते रहते हैं। कविता में वामचेतना की भूमिका असंदिग्ध है।

•

विदेशी कविता का सांस्कृतिक दाय और हिन्दी *
(हंगारी कविता का संदर्भ)

प्रस्तुत कविताएं उस स्थिति और परिप्रेक्ष्य की कविताएं हैं, जब कवि मानव अनुभव और संवेदनाओं को भी स्वर देता है और कविता के बाहर अपने दायित्व की चेतना से भी सम्पन्न होता है। जब ऐसी कविता अनूदित होती है तो मानव अनुभव का परिप्रेक्ष्य मूल भाषा से संक्रमण करके अनुवाद की भाषा में चित्रित हो जाता है और इस प्रकार की प्रक्रिया से गुज़रने से अनुवाद की भाषा (प्रस्तुत संदर्भ में हिन्दी) का उपकार किस हद तक हो जाता है, यह देखना हो तो रघुवीर सहाय हंगारी भाषा की कविताओं का प्रस्तुत अनुवाद देखना चाहिए । (प्रकाशक 'साहित्य अकादेमी)।

कुदरती बात है कि अनुवाद पर बहस करते समय भाषा की बात हो और भाषांतरकार की क्षमता की जांच हो। हालांकि इस बहस की एक सीमा है। हम केवल अनुवाद पढ़ते हैं । यदि मूल को भी जानते हों, तो उसे सामने रख कर अनुवाद जांचने में सहायता मिल सकती है, अनुवाद की तकनीकी परीक्षा की जा सकती है। परीक्षक ही इस तकनीक के सही ज्ञाता हो सकते हैं, आम पाठक नहीं।

---

* आधार : आधुनिक हंगारी कविता : सं0 निकलोश बायेदा अनु0 रघुवीर सहाय, साहित्य अकादेमी ।

अतः आम पाठक इसलिए ऐसा ग्रन्थ नहीं पढ़ता कि अनुवादक की क्षमता को परखे, बल्कि इसलिए कि अन्य भाषा का आनन्द प्राप्त कर सके या उस कविता का संदर्भ समझ सके।

हम मूल हंगारी नहीं जानते। रघुवीर सहाय ने यह अनुवाद मिकलोश वायेदा द्वारा अनूदित और सम्पादित पुस्तक का किया है। अंग्रेज़ी के अनुवादक–सम्पादक वायेदा अपनी भूमिका मे कहते हैं कि उन्होंने समर्थ अंग्रेज अमरीकी और कनाडाई अनुवादकों की सहायता ली है।

खुद वायेदा स्वीकार करते हैं कि अनूदित होने की क्षमता सब से पहले मूल कविता में होनी चाहिए। सब कविताएं स्थानांतरण की प्रक्रिया सहन नही कर सकतीं । और फिर 'अनुवाद मूल के कहीं सन्निकट ही पहुँच पाते हैं ' लेकिन कितना निकट ? किसी भी अन्य कला की तरह अनुवाद कला की भी कोई सीमा नहीं, यह उत्कर्ष को प्राप्त हो सकती है, असीम उत्कर्ष को नहीं। " मेरा मुख्य काम ऐसे साहित्य में जिसे हम महत्वपूर्ण और रोचक मानते हों, वे रचनाएं चुनना था, जो अनुवाद बर्दाश्त कर सकें और जो किसी पराई संस्कृति में रोप दिये जाने पर सूख न जायें। " स्पष्ट है कि मूल हंगारी कविताओं के चयन या सम्पादन में अनुवादक का हाथ नहीं हो सकता केवल अनुवाद ही उसकी पहुँच की कसौटी होती है। श्री रघुवीर सहाय ने इस प्रकार के प्रश्नों से बेलाग केवल अनुवाद करके कविता की अपनी प्रौढ समझ का भी और अन्य भाषा के अर्थों तक अपनी पहुंच का पर्याप्त प्रमाण दिया है, जो इन विदेशी कविताओं के हिन्दी अनुवाद से समर्थित होता है।

अनुवाद पर अलग से लिखने के बजाय हम मूल कविता की एक बानगी देखकर उससे परिचय प्राप्त करें तो अनुवाद की सफलता को भी अच्छी तरह समझ सकते हैं। ' अन्त में शान्ति ' 1934 में जन्मे मिहाई लादान्य की एक कविता है और समकालीन हंगारी कविता के एक नमूने के रूप में देखी जा सकती है। कविता एक सामान्य अनुभव के सामान्य अंकन से शुरू हो जाती है पर ज्यों–ज्यों आगे बढ़ती है, बात का वैशिष्ट्य स्पष्ट हो जाता है :–

कुल मिला कर देखो तो चिन्ता की बात नहीं – मुझे तुमसे प्यार है /स्वप्न में आती हो । वाकई / एक–एक सपने का पूरा हिसाब रखता हूँ। कब पहली बार मैं मोहित हुआ था और / कब मुझको तुमने निराशा में डाला । / देखो तो,

जब से इतिहास किसी पुरखे ने गढ़ना शुरू किया / दस्तावेज़ के बिना काम चलता नहीं हालांकि अन्त में हम सबको गुमनाम होना है। / नायक की गर्दन में एक तख्ती है ' नायक है ।' / और एक जल्लाद की गर्दन में भी पड़ी । जब तक इबादत ज़रा वक्त से पिछड़ गयी होती है / फर्क नहीं पड़ता है कोई इतिहास को । / यह अपना काम किंये जाता है' दारोगा सफाई का, अवकाश के दिन तक नौकरी निभाते हुए । ठंडे काम किये जाता है / दारोगा सफाई का, अवकाश के दिन तक नौकरी निभाते हुए । ठण्डे दिमाग से । / इतिहास पूंछे मरोड़ता अपनी खड़ी टोपी को बांकी कर / हड्डियां बुहारता हुआ चला जाता है। ढेर में मिलाता है यह कवि की हड्डियों को ढिढोरची के संग / और जब ढेर उसे लगता है बन गया / कहना / ठीक है, जब छुट्टी कर लें / पालथी मार कर बैठता / पिच्च से थूकता / यही तो शान्ति है।

इतिहास बनाम चेतना का कैसा ज़ोरदार यद्यपि सामान्य शब्द बद्ध अंकन है। वस्तुतः कवि, प्रकाशान्तर से, हंगरी जैसे (उस समय के) पश्चिमी साम्यवादी देशों की स्थिति के संदर्भ में मूल सैद्धान्तिक विचारों और आदेशों तथा समाज के कर्म में आए अन्तर को उभारते हैं। हंगरी के बारे में यह जानना ज़रूरी है कि समाजवादी क्रान्ति से पहले भी यह देश एक द्वीप की तरह यूरोप के बीच स्थित था और मिकलोश वायेदा के अनुसार द्वीपवासी एक तो अपनी भाषा के ज़रिए अपने मूल सांस्कृतिक उत्सों से जुड़े रहते हैं, दूसरे अपनी कविता को बाकी दुनिया से मिलाने के लिए, एक पुल की तरह इस्तेमाल करते हैं।

प्रस्तुत संकलन को पढ़कर यह जानने की ज़रूरत नहीं रहती कि उस देश का इतिहास क्या था, क्रान्ति या समाजवादी प्रयास कैसे थे या फिर 1990 में वहां का समाजवादी ढांचा कैसे और क्यों ढह गया – कविता खुद ही यह सब बताती है। क्रान्ति से पहले ही ऐसी सोच व्याप्त थी, शोषण और असमता की नितान्त व्यक्तिगत और तीक्ष्ण अनुभूति मौजूद थीं। कविता इस बात में है कि वाचालता नहीं है और संकेत खुद ही उभर कर आते हैं। उदाहरणतः संकलन की पहली ही कविता लायोक कश्शाक (1887–1967) की 'कारीगर' देख लें :–

हम न वैज्ञानिक हैं न धर्म संघ के पवित्र पूजनीय मठाधीश . . . .
हम सब इस सबसे परे हैं अपनी चिर शान्त कोठरियों में निश्शब्द . . . .
कल भी हम अकेले थे और कल, कल कहीं शायद शताब्दी का अनुपम कृतित्व हमारा ही हो।

हां, शायद क्योंकि इन भद्दी गठीली उंगलियों से ऊर्जा फूटती रहती है/
कल हम नयी बनी दीवारों पर अपनी विजय कथा आकेंगे . . . .

और फिर एक ऐसी अन्य कविता में व्यंग्य प्रखर हो उठता है :–

एक और दृश्य दिखा, तुंदियल सा एक पुरुष
पाजामा डाले सिगार मुंह में दबा पड़ा था
शऱबती रोशनी में वह सम्पत्ति के वैभव के सुख की तस्वीर था
मानो साम्यवादी दल के प्रचार के लिए कोई कार्टून हो ।

– द्युला इय्येश

एक कवि हैं वरेश शांदोर, जिन्हें किसी भी पूर्व निश्चित कसौटी पर कसा नहीं जा सकता। इनकी कविता में तथाकथित हंगारीपन या हंगारियत इतनी नहीं कि बोझिल हो जाए और कवि प्रतिनिधि हंगारी कवि कहलाने की आड़ में किसी अपरिचित अबूझी काव्यात्मक भूलभुलैया में पाठक को फंसा दे। इस कारण उनकी कविता अनूदित होकर कोई गुण खो नहीं देती । अनुवादक का कमाल तो है ही पर मूल कवि का भाषा छन्द मुहावरे पर पर्याप्त अधिकार हो और वह प्रतिभा सम्पन्न हो तभी समर्थ अनुवादक भी अनुवादकर्म में सफल हो जाता है। शान्दोर की कविता देख कर तो ईर्ष्या होती है, अभिव्यक्ति सामर्थ्य की अपने यहाँ के समर्थ कवियों से तुलना करके। ये बड़ी आसानी से कथ्य को शब्द देते हैं और खुद को किसी शब्दातीत या अनुभवातीत प्रेरणा का निमित्त मात्र मानते हैं। पर उनकी कविता की यह रहस्यपूर्णता छायावादियों की तरह तथाकथित अव्यक्तता की बोझिलता और गुह्यता का शिकार नहीं हो जाती । संदर्भ और अभिव्यक्ति दोनों समकालीनता के प्रसंग में सार्थकता प्राप्त करते हैं :–

आन्तरिक अनन्त से अब भी कभी कभी
चेहरे के रास्ते झांक कर देखता रहता हूँ . . . .
आँखें हार जाती हैं, औरों के जैसा रह जाता हूँ
बाहर के विश्व ने कपाट उढ़का दिये, मुझे छोड़
वहां जहां धरती नहीं केवल आकाश है
दरवाज़े पर दुनिया खड़ी है बौखलाई :
"विक्षिप्त । अहम्मन्य । दगाबाज़ । " रह रह कर गरजती है
पर ठहरो । मेरी खोपड़ी में तंदूर है
एक दिन तुम्हें इसी रोटी पर जीना है और वह खानी होगी ।

(आंतरिक अनन्त से परे)

बच्चों के लिए उन्होंने जो कविताएँ लिखीं, कहते हैं कि उनसे नौसिखिये कवियों ने कविता सीखी :—

एक दस्ता दायें
एक दस्ता बायें
मेरे पीछे आयें — हयू हा
जायें दादी अम्मां को दफनाएं ।

' ' '

धूप छत पर खिली है जगरमगर
रात नभ में टंगी हुई है मगर
तभी तो सुप्रभातम
तभी तो शुभ रात्रि है ।

अच्छी कविता में बड़बोलापन नहीं होता और सामान्य लगने वाली बात भी मर्म को छू जाती है तथा हमें किसी अछूते अनुभव से गुज़ार जाती है। मसलन ' बपौती ' कविता का यह चित्र हृदय को कुरेद के रख देता है :—

मां की जब कल्पना करता हूँ
वह मुझे नृत्य की मुद्रा में नहीं
बल्कि खेत में अंगूर की लतरें छंटी
नीले थोथे के बुरादे से ढकी हुई
दो बोरे गेहूं, आठ राई के खटकर कमाती हुई दिखती है . . .
ये सब स्मृतियां मुझ में घुमड–घुमंड जाती हैं —
मेरी मां जो न बची
देह के अन्धेरे में कैंसर के हाथ ने जिसको जकड़ लिया
फिर वह चली गई मेरी पहली किताब
देख वह नहीं पायी। मैं उसके तकिए के नीचे नहीं चुपचाप रख सका पैसे
कपड़ों के लिए . . . .

यह ठीक है कि इस अनुवाद की सक्षमता मूल अंग्रेज़ी के सम्मुख ही आंकी जा सकती है पर जब अनुवाद अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में किसी कमी का आभास दे, कोई बात खटके या दूर की सूझ लगे तो अनुवादक की कमज़ोरी खुद ही झलक जाती है। कुछ विश्वप्रसिद्ध अनुवादक हैं जिनके अनुवाद से ही अंग्रेज़ी–इतर साहित्य के क्लासिक अंग्रेज़ी में आ सके हैं। प्रस्तुत कविताओं में हंगारी भाषा की संस्कृति के सीधे दर्शन तो नहीं हो सकते पर रघुवीर सहाय जैसे प्रतिभावान

अनुवादक के समर्थ और विश्वसनीय अनुवाद के माध्यम से हम उसकी झलक ज़रूर पा लेते हैं। मूल पदबंधों और मुहावरों को हिन्दी के निकट लाने का उनका प्रयास दर्शनीय हे – कम से कम इतना तो ज़रूर है कि जब वे हिन्दी के कई कम प्रयुक्त या कम लोकप्रिय शब्दबंधों का इस्तेमाल करके बात बनाते हैं, तो मूल का दबाव ज़रूर होगा वरना वह चलते फिकरे जुटा कर बात टाल सकते थे। इसका प्रमाण प्रस्तुत ग्रन्थ में जगह–जगह पर मिलता है :–

और ऊपर गये हवा और शीतल की धूलमय और कम
चेहरे सलोने और अच्छी तरह तांबई मुलायम थे . . .
(जादुई दुर्ग–ग्यूल इय्येश)

क्योंकि यही सब कुछ है यह सब जो मीजकर सिद्ध कर
कपड़छान कई कई बार कर
उन सब से चूसा गया है जो घर पर उसे थूक से
निगला करते हैं . . (वही)
पीछे लगे मिले शनियल अखबारी कलमघिस . . . (वही)
चार्ली सिलबिल
जानी सिलबिल
मैं तो ऐसा नहीं – मैं तो काबिल
मेरे तो हर जगह बुद्धी है
देख लो वहां भी जहां पर दद्दी है ।

दीवारों में सब दिखलाय
क्योंकि दीवारें हैं ये नांय . . .
जब मकान हुई गवा खड़ा
बापू बोले भई वा
(छुटकन्नों की बातें : शांदोर वरेश)

तुरही ने टीप की तान ली
चढ़ा हुआ नक्कारा ठेंका देने लगा
मस्त धुन रवां हुई
मींड ली, आ गई समय पर . . .
(छुटटी का दिन : इयरे चौनादी)

•

समरस भूमि की खोज *

अपनी कविता यात्रा पर लिखते हुए मोहन निराश एक स्थान पर कहते हैं कि " वादों की भीड़ में से मैं भी (अन्य मित्रों के साथ साथ) गुज़रता गया। प्रेम–प्रगीत, राष्ट्रवाद, स्वच्छंदतावाद, छाया तथा रहस्यवाद, यथार्थवाद प्रयोग वाद – कहीं न कहीं, किसी न किसी कविता में कोई न कोई बात आ जाती है और फिर ऐसा भी अनुभव पाया कि सारा तिलिस्म टूट गया था। सारे भ्रम समाप्त ही हो चुके थे।" निराश की इस आत्मस्वीकृति से उनके काव्य लेखन की यात्रा को बेहतर समझा जा सकता है, यद्यपि यही उनकी रचना की सीमा नहीं।

कश्मीर के हिन्दी लेखक की भी यही विकास यात्रा है और व्यक्तिगत रूझानों या परिस्थितिजन्य दबावों को छोड़कर यहां का हर कवि इन ही चरणों से गुज़रा है। इसका कारण इस भाषा की व्याप्ति की यह प्रक्रिया है, जिस से गुज़रना यहां के लेखक की नियति है। आज से चालीस–पचास वर्ष पूर्व अर्थात् इस शती के पांचवें–छठे दशक में आज के कश्मीरी भाषी हिन्दी कवि को इस भाषा साहित्य के पहले संस्कार मिले। कविता उसे उन पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से मिली, जिनके हिन्दी भाषी सम्पादक–संकलन कर्ता अभी छायावादी कविता को भी निरापद मान्यता देने को तैयार नहीं थे। मजबूरन – महादेवी, प्रसाद निराला की कविता देकर फिर बच्चन का एकाध गीत देना उनकी उदारता थी । " आजकल ' बच्चन' ' सुमन– ' अंचल जैसे नवयुवक हिन्दी कविता–पयोधि में वृद्धि कर रहे

---

* आधार : मोहन निराश की कविताएँ

हैं।" कहकर पाठक–विद्यार्थी के लिए पढ़ने सीखने की खुली छूठ की गुंजाइश रखते थे, क्योंकि परीक्षकों से 'नवयुवकों' की कविता से प्रश्न पूछे जाने का खतरा नहीं था। यही कारण है कि सन पचपन तक कश्मीर में छायावादी स्वर का ही प्राध ान्य रहा । स्वतन्त्र पढ़ने और फिर लिखने में प्रवृत्त होने वाला एक छोटा वर्ग इस स्थिति से उभरा तो उसने खुद को नई कविता की बदली हुई हवाओं से जूझते पाया। नई मानसिकता को एकदम ग्रहण नहीं किया जा सका क्योंकि नई कविता प्रयोगवादी अस्थैर्य से गुज़र कर उस समय टिकने लगी थी। यहां का कवि अब वयस्क हो चुका था और अपने मन को अपने परिवेश से एकदम कटा पाकर दिग्भ्रान्त होने लगा था। बदले परिवेश को समझने और नई कविता की भाषा में उस परिवेश की अभिव्यक्ति की आशातीत सक्षमता देखने में हमारे कवि का रचयिता मन भटक गया और उसने पाया कि उसका तिलिस्म टूट चुका है, भ्रम समाप्त हो चुके हैं। रचना के स्तर पर उसने पाया कि वह जिस मुहावरे में सोचता था वह अब इस भटकन और भ्रान्ति का भार सह नहीं पा रहा । जीवन के स्तर पर वह चौंध गया, अपने आपको एकदम समकालीन स्थिति के समक्ष पाकर । यह सर्वग्रासी प्रभाव इतना जेनुइन था कि वह, तब से, समाकलीन काव्य–धाराओं को परखता–पहचानता हुआ भी उनको अपनी आनुभविक तथा स्थानसंगत सचाइयों की कसौटी पर कसता रहा है और तकरीबन रद करता रहा है। मतलब नई कवितेतर धाराओं से है। वह न अकवि हो सका और न ही अचेतन–सचेतन और जाने क्या। नयी कविता की स्थिति हिन्दी प्रदेश में उभरती कविता–राजनीति से जितनी बदलती गई उससे उसकी समयसिद्ध और विचार–दृढ़ नींव नहीं बदल सकी। समय और विचार की जड़ें दूर–दूर तक जो फैली थीं।

निराश का पहला कविता संग्रह 1971 में छपा – ' कृष्ण मेरा पर्याय' और 1971 में ही उनके सह–सम्पादन में 'एक अपरिचित आकाश' छपा जिसमें उनकी पांच कविताएं संगृहीत हैं। स्वयं उनके कथनानुसार 'कृष्ण मेरा पर्याय' में उनका 51 से 69 तक की लिखी कविताओं का संकलन हुआ। यानी 1951 से उनकी कविताओं की यात्रा शुरू हुई। 'आकाश' की कविताएं 1969 से 1971 तक की कविताओं में से ली गई होंगी। उसके बाद अगले कविता संग्रह 'कविता खानाबदोश के प्रकाशन तक उनकी कविताएं छिट–पुट रूप से छपती रहीं ' ।

जैसा कि ऊपर बताया गया, 1951 के 'निराश' छायावादी और उत्तर छायावादी भावभूमि की कविता लिखते हैं। उनकी शैली पर भाषा और शब्द संरचना पर उत्तर छायावादी प्रभाव ही रहा। 'कृष्ण' की की कविताएं इसी बात की

द्योतक हैं। इससे पूर्व की उनकी कविताएं पूर्णतः छायावादी रही होंगी। पहले संग्रह में कवि उनका ज़िक्र नहीं करते। (इसलिए शायद उन्हें स्वीकृत भी नहीं करते।) खैर, इस संग्रह की कविताओं में स्पष्ट ही एक वर्ग उनकी आरम्भिक रचनाओं का है। उत्तर छायावादी से प्रगतिवादी अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए। उत्तर छायावादी केवल अवधि की दृष्टि से छायावादी नहीं (क्योंकि छायावाद 1945–50 तक रहा) – यह बात नहीं, बल्कि ऐसी रचना जो छायावाद की मुख्यधारा के सूखने के बाद भी कहीं कहीं चलती रही, जो वस्तु तथा दृष्टि के लिहाज़ से छायावादी थी। अवधि की दृष्टि से मुख्य धारा के समकालीन न होने का केवल यह परिणाम निकला कि लहजा थोड़ा सा बदला दृष्टि वही रही, बात वही थी, कही दूसरे ढंग से गयी। निराश की ऐसी कविता मुख्यतः गीतों की है। यद्यपि गीत छायावाद ने भी दिये, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता–गीत का महत्व सब ने स्वीकारा और उर्दू के लिए गज़ल की अनिवार्यता की तरह हिन्दी के लिए गीत पर्यायवाची बन गया। पर निराश के गीत लहजे के परिवर्तन और उनकी अपनी सीमाओं – भाषा के एकैडेमिक प्रयोग – से ज़रा भिन्न दिखते हैं – महादेवी या प्रसाद या रामकुमार के गीतों से । वे 'बच्चन' के कवि सम्मेलनों या गीतों, अंचल और सुमन के तथाकथित 'जनवादी' गीतों के राष्ट्रीय या जन सांस्कृतिक रुख को ज़्यादा पेश करते हैं। इनमें एक बाज़ाब्ता प्रयास है जन संस्कृति के स्वातन्त्र्यपूर्व संस्करण की छाप पाने का । (संस्कृति बेशक एक अजस्र धारा होती है पर जब यह 'जन संस्कृति' हो जाती है तो इसके सामयिक और प्रासंगिक अर्थ होने लगते हैं। कभी जो 'वर' होता है वह 'विजन' हो जाता है। यह पता लगाए रखना पड़ता है, तभी 'जन संस्कृति का गीतकार' हुआ जा सकता है।) निराश में ' जन ' होने की ललक मिलती है पर लगता है कि यह कवि पता लगाए न रख सका और इसीलिए आगे फिर भटक गया और ' रद्द किए जाने की भावना ' को अनुभवने लगा :–

वैसे तुम मांगते हो इतिहास
मैं
और कितनी सारी तिथियों के साथ
दे सकता हूँ
दो खूबसूरत सी मृत्यु तिथियां
(यह करने में मैं समर्थ भी हूँ सक्षम भी)
क्योंकि तुम भी मर चुके हो
और मैं भी मर चुका हूँ ।

'रद ' होने से पहले वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए जो मुहावरा गढ़ चुका था जो 'कलीशे' बना चुका था, वह उसके लिए खुद ही अर्थहीन हो के रह गया :–

शंख सीपी हाथियों से
. . . .
अम्बपाली से हेलेन से
कांच के राधा किशन से
संगे असवद के सनम से
जो सजाई जा रही थी
हाट बासी हो गई
बाट वासी हो गई

यह गीतकार के प्राकृतिक विकास की प्रति–चरमसीमा थी । जहां तक मेरी जानकारी है निराश सीधे किसी 'जन साहित्यिक' आन्दोलन से जुड़े नहीं थे, लेकिन इतना अवश्य है कि उत्तर छायावादी या तथाकथित 'जनवादी गीतकारों की मनोभूमि से वह एकाकार होना चाहते होंगे। उनकी जनवादी आकांक्षाएं साम्प्रदायिक न होकर 'राष्ट्रीय जनवादी हो जाती हैं और मानवतावाद के विशद घेरे के अन्दर रची जाती हैं :–

कि आज अंक बांझ का खिला हुआ हरा भरा
नहीं यह सत्य ऊसरा वसुन्धरा है, है उर्वरा
जाना जो पुत्र, मित्र है
समय का, स्वस्थ चित्र है
सजीव सत्य देख लो, सपन पुकारने लगा।
उठो मनुष्य चेतना का स्वन पुकारने लगा ।

जन संस्कृति का पारम्परिक चित्र निराश की इस समय की कविता में बार–बार उभरता है। बाद में उन्हें लगा कि अम्बपाली और राधाकृष्ण हाट में बिकने लग गए हैं, वह उस समय उनके लिए आस्था के आधार थे – यह नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता कि निराश जब गीतों में अपनी एक अलग पहचान कायम करने के प्रयास में लग जाते हैं तो राधा, कन्हाई मीरा उनके आड़े आते हैं, बार बार यों कि फिर इन नामों के साथ जुड़े उनके किसी भी भुक्त सत्य में सन्देह होने लगता है :–

हर प्रीत न राधा बन जाती
हर दर्द न मोहन बन जाता
हर पीर न मीरा बन सकती
बन सकती क्या राध–मीरा । . . . .

और : कोई मोहन कोई राधा
हंसी ज़रा भर, मन भर रोना . . . .

या फिरः – पनघट पर पानी भरने का
मेला लगता सांझ सकारे
कोई राधा कोई मीरा
ले आती घट प्यारे प्यारे . . . . आदि आदि

इन ही राधा और मीरा का क्या हश्र होते देखा बाद में कवि ने जब इनकी सजाई जाती हाट बासी पड़ गई। 'जन' होने की ललक का एक और रूप है – लोक संस्कृति के क्लीशे को इतना दोहराना कि वह घिस जाए :–

(1) यह मांग सजी थी सजनी की
यह द्वारे आया था साजन
रव शहनाई का लहराया, था बाजी पायलिया रूनझुन ।
(2) कब मेंहदी थी बनी सुहागन कब कुमकुम था प्यारा लागा
कब चूड़ी सधवा हो आई नथ का भाग भला कब जागा।

मेहंदी के उड जाने; चूड़ी के विधवा हो जाने और मांग के उजड़ जाने का दर्द फिर कवि की नस–नस में भर गया और 'लोक गीत' का उन्मुख चेहरा टूटन और तनाव को अभिव्यक्ति देने लगा :–

संध्या मेहंदी रचती जाती पर पिय की बारात न आती
कोई नहीं खबरिया लाता और न आती पी की पाती . . .
चूडी बड़ी हो जाती है रोली कुमकुम झर जाता है . . .

. . . . और गीत की पीड़ा का स्वर समकालीन होने लगा । जो प्रिया पहले रिझाती थी अब बोर करने लगी, और इस बोरियत ने सब से गहरा आघात किया प्यार की

आत्मीयता पर। वस्तुतः पनघट पर उतरने वाली राधा और मोहन को पूजने वाली मीरा केवल रिझाने वाली नायिका थी, कम्पेन्सेशन था, निजी जीवन में कल्पना होके रह जाने वाली प्रिया के आभास का । जब छायावादी भावुकता की सम्पन्नता में प्रिया केवल राधा और मीरा रही, पत्नी या प्रियतमा न हो सकी तो उत्तर छायावादी स्थिति में वह निकट कैसे आती, आत्मीय कैसे होती । वह और दूर पड़ गई तथा केवल नारी हो के रह गई :–

किन्तु मुझे विश्वास – नहीं वह उजडेगी ही । नारी तू
वेश्या न बनेगी । मैं न मरूंगा . . . .

प्रिया का नारी बन जाना उस प्रक्रिया का द्योतक है जो आत्मीयता की धीमी समाप्ति और भीड़ से एकाकार होने की आकांक्षा के दौरान होती है। भीड़–साम्प्रदायिक अर्थ में नहीं कि जहां फिर संकेत ही आज्ञा बन जाता है, बल्कि इस अर्थ में कि घटनाओं की सुलभ तथा आम शब्दावली में व्याख्याओं की खोज की जाती है। युद्ध और शान्ति की व्याख्या 'सजनि' के पुराने प्यार और 'साजन' द्वारा ' नारी का जाम' सजाने के मुहावरे में की जाती है। कवि जब किसी को हड्डी चूसते देखता है, किसी को शोणित चाटते तो आकांक्षा प्रकट करता है कि 'तामस योग ढले' तथा 'निश्चेतन' को ' चिर चेतन निगले' ।

इस चरण पर कवि के लिए आवश्यक हो गया कि "भीड़ के साथ–साथ चलते हुए भीड़ से अलग रह कर सोचना कि कौन सी दिशा इस मोड़ की है। आखिर कुछ दूर जाकर हमने खुद को इस भीड़ में गैर ज़रूरी पाया।" इसी मोड़ पर कवि को लगा था कि वे रद किए जा रहे हैं। प्रश्न है किस के द्वारा ?

कवि साधारण निम्नमध्यवित्त परिवार में जन्मा, आज से सत्तर वर्ष पूर्व जब इस वर्ग का न हीं समकालीन राजनीतिक आकांक्षाओं से सीधा सम्बन्ध था और न ही वह निजी स्तर पर अपने भावी कार्यक्रम की सुरक्षित छाया में सुस्ताने के लिए यात्रा जारी रख सकता था। व्यक्तिगत तौर पर कवि 'प्रोफेसर' बनना चाहता था – उसका कारण छात्रों वाले परिवेश में मौजूद था। तब तो यह पद ईर्ष्या की वस्तु था, आज न हो तो और बात है। अपनी पहुंच और घर–बाहर के वातावरण में इसका कोई अनुमोदन न पाकर घुटा होगा इस व्यक्ति का मन।* आरम्भिक कविता का आत्मसंलिप्त स्वरूप इस मन में बना निखरा होगा। कवि ने एक साक्षात्कार में बताया है कि जाने किस प्रेरणा से कवि बनना चाहता था " लेकिन

इतना याद है कि यह चाहा था कि लेखक बनू " क्योंकि लेखक ' कुछ' बने होते हैं, कुछ ज़रूर कर पाते हैं।" यह पहले से सोचा था, बाद में छात्र जीवन की तत्कालीन प्रवृतियों और वातावरण ने उसे थोड़ा पनपाया । लिखना पहले से शुरू किया था। घर में साधारण वित्तीय परिस्थितियों के बावजूद पिता के पाठक–संस्कारों ने कथा, उपन्यास पढ़ने लिखने में मन लगा दिया था। कालेज जीवन मे स्वयंसेवी संस्थाओं जैसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन से जुडे रहने के कारण भाषा में दिलचस्पी और भाषा लेखन में कलम आज़माने में रस आने लगा था। इस प्रकार लेखन के प्रति झुकाव तथा लेखन समुदाय में शामिल होने की आकांक्षाएं जन्मती गईं।

ज़िन्दगी के इस मोड़ पर, जीवन के एक महत्वपूर्ण भाग, संरचना के एक आधारभूत अवयव, रचना के मूल प्रेरक तत्व, व्यक्तित्व की आत्मीय इकाइयों के बिखरने टूटने तथा निरर्थक होने के आभास ने कवि का स्वर बदल दिया और वह अपनी अर्जित भाषा के द्वारा भी अस्वीकृत होने की अनुभूति से पीडित हो उठा – प्रतीक और उपमानों के देवता तो कूच कर ही गए थे। अपने इतिहास के ही झूठे पड़ने का भयावह सत्य उसे झकझोरने लगा – तुम मुझ से मांगते हो इतिहस/ मैं समर्थ हूँ केवल देने में एक लम्बा जलूस/जो हर बार हर गली से गुज़र कर/ उसी चौक में जा पहुंचता है/ जहां न जाने किस समय से वह ईश्वर खड़ा है/ जो मौसम ब़दलने के साथ टूटता है/ ' तुम मांगते हो इतिहास ' कवि के इस मोड़ की पहचान है। यहीं उसका भाषा के इश्तहार बन जाने का और लिपि के धूमकेतु की इबारत बन जाने के यथार्थ से सामना हुआ । जिस कवि की भाषा राधा के पनघट पर मंडराया करती थी वह ' टूटन पर बा़सी खबरें मढता ' हुआ, इतिहास के मांगने के जवाब में ' केंचुए, कांतर, छिप़कलियां . . . . चिमगादड़ ' देता हुआ मिलता है। भ्रम टूटने या दृष्टि बदल जाने से भाषा कैसे परिवर्तन चक्र में फंस सकती है या विकास का द्योतन कर सकती है, इस का उदाहरण देखना हो तो निराश की उस दौर की कविताओं का पर्यवेक्षण करना होगा ।

भाव और भाषा की इस स्थिति तक पहुंचने के दौरान निराश जिन काव्यानुभवों से गुज़रे उनमें प्रयोगवाद का औत्सुक्य न था और परिणामस्वरूप उसमें न तो भाषा की कच्ची गठन है और न ही नयी कविता की अभिव्यक्ति–निश्चितता का आह्लाद । औत्सुक्य या आह्लाद संस्कारगत विशेषताएं हो जाती है जो चरित्र में रची पची होती हैं। निराश ने भाषा को एकैडेमिक स्तर पर ग्रहण किया इसलिए

* पिता चाहते थे कि गणित पढ़ें और अध्यापक भी हो जाएं तो इसी कारण से हिन्दी पढ़ने के इनके शौक को उनका समर्थन नहीं मिला ।

यही उनके सम्पूर्ण लेखन का घेरा है। औत्सुक्य और आह्लाद उनमें रच पच नहीं गए, इनके लिए दो सीमांत बने। इन दो सीमांतों के बीच ही उन्हें अनुभव प्राप्त होते हैं तथा पनपते हैं। अलबत्ता भाव में केन्द्रीकरण और संगुम्फन की कोशिश करते है :—

पथराई यादों को सरका
इधर उधर को . . . . .
सपन उगा है
दिवसों दिवसों बाद उगा है
चांद उगा है ।

अक्षर ' प्रवण प्रिया वेद ऋचा ' की भान्ति बावरा हुआ और कई बार ' टेरते रहने' के बाद आवाज़ बन गया। उनकी ' अक्षर और आवाज़ ' नामक कविता भाषा की विकास यात्रा की स्वीकृति है :—

कोई पोत न भेजना . . . .
मैं वह पोत लहरों में लहराने दूँ
मंझधार में बहाने दूँ
भंवर में भंवर हो जाने के लिए मुक्त छोड़ दूँ। . . .

नयी संवेदनाओं की जागृति के दौरान निराश में कुछ पुराने संस्कारों के कारण और कुछ समकालीन स्वर के प्रति खुली मानसिकता के कारण, सूरज ' आकाश' ट्रेजडी, नियति, बाज़ारू तथा शताब्दियों ' के तुलनात्मक बोध के मुहावरे में नयी बात कहने की प्रवृत्ति पैदा हुई दिखती है। सूरज इसका पूर्वाग्रह बन जाता है, जो अपने पारिवारिक विरद के प्रतिकूल आचरण करता है।

सूरज की नीयत में रातभर से चोर आके बैठ गया है/
धूप बांटने के बहाने / वह घरों के अंतरंग तक आयेगा .../
या हो सकता है वह ले जांये / तुम्हारी दृष्टि . . .।

इसी प्रकार कवि को लगता है कि सूरज का बढ़ता हुआ रोल समझने की ज़रूरत है। यह तो अब — " हमें . . . हमारी ज़िन्दगी की इस ट्रेजडी (एक साया सदा हमारे साथ लगा रहता है) का तो अहसास दिलाता है, किन्तु यह हमारी आयु लेता है "

जिस भाषा और भाव की गलियों से निराश का संवेदनशील मन गुज़रा, उसकी स्थिति अलग हो जाती है। वह समकालीन समस्याओं से दो चार होता है, वर्तमान विषमताओं और विसंगतियों को झेलता है, पर, उसकी कविता में महज़ कटुता या तिक्तता नहीं आती । " अन्य शताब्दियां : एक प्रतिक्रिया ' में इस कटुता का 'हाइना' हंसता तो है, अन्तर्नक्षत्रीय यात्रा पर जा रहा कोई अंग, टुकड़े–टुकड़े होकर बरसने तो लगता है, लेकिन इसी कविता में जब तेज़धार वाले चाकू का पानी उतारा जाता है, जब 'हाइना' के होश–बहोश कबीर आ जाते हैं, सरे–बाज़ार रोने के लिए ही चाहे; वियतनाम के शहरे गुमनाम का ज़िक्र हो जाता है और ईश्वर के ठण्डे लोहू के साथ–साथ नानक आ जाते हैं, ' प्रभजी ' कहते हुए ही सही। यह भी मानना होगा कि इससे कवि की स्थिति ईर्ष्यामय भी हो उठती है। 'आत्महत्या' इसी कारण एक सुन्दर कविता हो जाती है, अनुभव की घातक नही हो जाती। बात सम्प्रेषण की परिणति पर पहुँचती है, जब :–

" मैं उन्हें रौंदता गया
उन अंडों की तरह
जो यदि सेये गये होते
तो कितने ही क्रौंच जनमते . . . .

'नियति' अनुभूति के घनत्व के बावजूद इस बिन्दु की तरह पारदर्शी हो जाती है, जिसकी परिधि में रहने की नियति को स्वीकारने की अभिलाषा इस कविता में प्रकट हुई है। 'जीने दो मुझे ' अति यथार्थवादी आयामों की कविता होने के बावजूद चट्टानों, सेंधों और वीरानों के लैंस्केप का चित्रण हो जाती है। इसी प्रकार ' अनुत्तरित प्रश्न' की 'तुम' एक सहज समाधान बनके उभरती है, जो 'मन्दिर परस' से 'जाम' खोल सकती है। निराश की टेढ़ी लगने वाली कविता भी कोई समस्या नहीं रह जाती । इनका अनुभव भावातीत हो सकता है भाषातीत नहीं होता। इस प्रक्रिया के दौरान, जो भाषा निर्मित होती है, वह बिम्ब के ' निराश सुलभ' रूप में ढल जाती है – 'मर्मिनी धूप', 'पीली नज़रें', ' महापंछी आकाश', ' एक दिन का सौतेला आदमी', 'रोप देता है प्रतीति', 'रेशमी स्पर्श' ' मज्जा में ढला सर्दी का सीसा' ।

निराश की कविताओं को देखते हुए एक बात से दंग हुए बिना नहीं रहा जाता । वह है हाइपोथेटीकल स्थितियों पर और (शायद) फर्माइशी अवसरों के लिए इतनी सुन्दर कवितायें लिख पाना। 'कृष्ण : मेरा पर्याय' मे तीन ऐसी कवितायें हैं जो तीन प्रसिद्ध मृत्युओं पर लिखी गई हैं। 'रक्त विज्ञापन' मार्टिन लूथर किंग

की हत्या पर, 'स्याह सूरज वाला दिन' नेहरू के देहावसान पर, '22 नवम्बर, 63', राष्ट्रपति केनेडी की हत्या पर है। इनमें अनुभूति सच्चाई और मुक्त–यथार्थ से प्रेरित लगती है और भाषा अनायास हो उठती है :

हर झुके हुए झण्डे की नीचे
दफतर बन्द रहा ।
आँखें फाड़ता किवाड, जो खुला
प्रश्न पूछने के लिए . . .।
इसी प्रकार
वह अनेकों बार अखबारों में छपा हुआ देखा गया,
क्योंकि वह समाचार था।

इसकी वजह शायद निराश के व्यक्तित्व की लचक और एडजेस्टेबिलिटी है। वह अपने कवि को बहुत जल्द स्थिति से स्थिति तक स्थानांतरित कर सकता है और परिस्थिति को जी सकता है। आकाशवाणी में उसकी नौकरी की मांग है कि वह रोज़ तीन से चार तक भिन्न कार्यक्रम तैयार करे। हिन्दी का साहित्यिक कार्यक्रम जुटाये, लेखक का साक्षात्कार करे, कृषि या भौतिकी अथवा किसी राजनीतिक महापुरुष या किसी दूर देश के भौगोलिक परिचय या आदिमानव की मनोवैज्ञानिक अभिवृत्ति या एक्स आल्ट्रा वाइलेट–लेज़र किरणें या समुद्रतल के भूगर्भीय परिवर्तनों पर ऐसा कार्यक्रम कराए कि घर में, हाट–बाज़ार में, खेत–खलिहान में, कारखाने में पड़ा–खड़ा, काम करता अशिक्षित मज़दूर, किसान, गृहस्थ गृहस्थिन सुन–समझ ले। अपने व्यक्तित्व को एकदम बांट पाने, ध्यान को विकेन्द्रित कर पाने और फिर मौलिक प्रयास की प्रविष्णुता बरकरार रखने की कोशिश में इस कवि का व्यक्तित्व रोज़ एडजस्ट होने की मांग करता है और उसे स्थिति से स्थिति तक बदलते रहने का अवचेतन प्रशिक्षण देता रहता है। इससे वह किसी अप्रत्याशित स्थिति में भी मौलिक दिख सकता है और किसी फरमाइशी अवसर पर भी रचनाशील।

विरोधों में पला यह कवि अपने अगले संग्रहों ' कविता खानाबदोश' ' दस्तखत सिलवटों के बीच' और 'शून्यकाल' सब में समरस भूमि की खोज में रहा। वह परम्परा को झटक नहीं सका बल्कि इससे अपनी भाषा को संशोधित करने में प्रयासरत रहा। उसने अपनी रचनायात्रा के दौरान अपने लिए बन्धन भी तैयार राहों की स्वतन्त्रता भी खोजी । ऐसा हर चेतना सम्पन्न और संवेदनशील कवि के साथ

होता है। 1990 से पहले ही निराश ठेठ भाषा भाषी वातावरण में रहने लगे थे और अपने कई समकालीलों की तरह राष्ट्रव्यापी सरोकारों से सम्पृक्त रहे।। इससे उनकी बुद्धिवादी सोच ठोस जीवनस्थितियों की विरोध भरी तस्वीरें देखने समझने में निुपण से निपुणतर होती गईं । उनके 'कृष्ण' के बाद के कविता संग्रह उनके बुद्धि सम्मत अनुभव को द्रष्टा के अनुभव में अनूदित करने के साक्षी हैं। इस में उनकी भाषा में अक्खड़ विराग तथा मुहावरे में बाज़ार का सा खिलंदड़ापन आने लगा, जो 'शून्यकाल' में अपनी चरमसीमा पर आया दिखता है। इतना निश्चित है कि निराश का अकाल देतान्त न होता तो कश्मीरी पृष्टभूमि के इस सिद्ध कवि की संवेदना के प्रस्फुटन के और ईमानदार तथा बेलाग बिम्ब हिन्दी राष्ट्र के आसमान पर उभरते और मान्यता पाते ।

•

हिंसक

ठहरो,
हमारे माथों पर भी शिलाएँ हैं
और शिलाओं पर लेख –
पर रात रात पर जाग कर
उसको मैंने
कमज़ोर उंगलियों से
लेख छीलते देखा है
जिसने मुझको
खुरदुरे हाथों से
माथा कुरेदते पाया है . . . .
यह हमारा निहित स्वार्थ
क्या हिंसा तुम्हारे भी भाग में
बदी है ?

•

सेतुओं की तलाश *

ओम प्रकाश गुप्त आधुनिक संवेदना को कई कोणों से ग्रहण करते हैं। देखने की आँख उनकी अपनी है जो प्रकाशित वस्तु–स्थिति से सही बिम्ब ग्रहण करने की कोशिश करती है। उनका भोक्ता स्थिति को गहरे में भोगने को प्रयत्नशील दिखता है। अभिव्यक्ति की भाषा वे दो तरह की लेते हैं। एक तो वह जो सन् पचासोत्तर दो तीन दशकों के रचना–प्रयास से सिद्ध हुई है और समकालीन संवेदना के हर कठिन तथा सरल पहलू को शब्द देने में सक्षम हैं। यह शब्द कुछ विशिष्ट स्थितियों में रूढ़ भी हुआ है। दूसरी वह है जो कवि के ऐकान्तिक अनुभव के मंथन से उपजती है। ऐसी भाषा भाव को सुनिश्चितता तथा स्पष्टता देता है और प्रेषणीयता प्रदान करती है, पर इसे प्राप्त कर पाना उनके अनुभव के घनत्व तथा प्रयोग पर अधिकार के सीधे अनुपात पर आधारित होता है।

कवि के बारे में यह विचार कि वे 'अपने परिवेश के प्रति रागात्मक निष्ठा एवं संलग्नता'[1] से लिखते हैं, शायद पूरा सत्य नहीं। रागात्मकता कवि के कवीतर

* आधार : ओमप्रकाश गुप्त : सेतुओं की खोज

1. चर्चित कवि की 'सेतुओं की खोज ' की भूमिका – 'आरम्भ'

व्यक्तित्व में हो सकती है पर जिस मानसिकता की उपज उनकी कविताएं हैं वह रागात्मक की अपेक्षा क्षोभात्मक है। कवि परिवेश की यथा–तथ्यात्मकता के सामने कदम–कदम पर सवालिया निशान बनकर खड़ा होता है और बौखलाहट से अपनी अनास्था को प्रकट करता है। परिवेश जैसा ऊबड–खाबड़ है, उससे आज के संवेदनशील कवि के मन में राग पैदा हो ही नहीं सकता, विराग भले ही हो। जब तक कि वह किन्हीं पारम्परिक सुरक्षाओं के कवच में आंख मूंद कर पड़ा न रहे। प्रस्तुत कवि परिवेश के साथ समझौता न करके ही रचना की शक्ति पाता है।

आज की कविता परिवेश की सही प्रकृति को समझने की कविता है। परिवेश पहले भी रचना को जन्म देता था पर तब वह विशिष्ट था तथा उसे सरल नियमों में ढाला गया था और सरलीकृत फार्मूलों – जैसे 'साहित्य समाज का दर्पण है' में उसकी आवश्यकता को स्वीकारा जाता था। नागर मशीनी सभ्यता ने मनुष्य की प्रवृत्तियों यहां तक कि स्वभाव में भी परिवर्तन के बीज बोए हैं; मानव की अभिवृत्तियों (एटीट्यूडस) के परिवर्तन से कुछ आधारभूत और पारिवारिक सामाजिक मूल्य भी बदल गए हैं। संवेदनशील कवि विषम सामाजिक तथा आर्थिक सम्बन्धों–स्थितियों को जैसे झेलता है वैसा ही स्वर उसे तब दे सकता है जब वह भाषा में निजी गरिमा भर सके। ओम गुप्त इस विषमता को झेलने की दो प्रतिक्रियाएं देते हैं। एक हे मजबूरी की और दूसरी है विकल्प की असम्भावना से जनित आक्रोश की । मजबूरी इसलिए नहीं कि उन्हें अपनी इच्छा के विरुद्ध जीना या स्थिति सहनी पड रही है बल्कि इसलिए कि वे अपनी इच्छा को स्पष्ट कार्यान्वित नहीं कर पाते :

क) आज मैं दादा की तरह सपने नहीं देखूंगा
इस कली को
किसी मन्दिर में नहीं चढ़ाऊंगा
क्योंकि
किराए का यह कमरा मुझ से छूट जाए
यह मेरे लिए असह्य है।
– (मजबूर स्वर)

ख) यह क्या हो गया है
कि आँखों ने
आकाश की ओर
देखना छोड़ दिया है ।

— (पीपल के पते)

कहा जा सकता है कि कवि का प्रधान स्वर यही है । काल्पनिक रंगों से बन्धने का दम्भ जब आत्मप्रवंचना हो तो यथार्थ के हर आयाम को समझना ही उसका सही आकलन होता है।

क) काफिले चलते
है चाल पर विश्वास किसको ।
आश्चर्य —
श्रम के देवता को
पंख झर जाने का डर है ।
— (बहुत ऊंची है अटारी)

ख) आज ठंडा सूरज मेरी पीठ पर उतर आया है
उसका भार
मुझे —
सिर्फ मुझे सहना है,
अपने हिस्से के
इसी सूरज को
मुझे
सामने के चौराहे तक ले जाना है।
— (सुनो मेरे साथियो, सुनो)

कवि में ऐसे रचना क्षणों को भी पहचाना जा सकता है जब वह विवशता के दायरों से जूझता नज़र आता है। ऐसा लगता है कि विकल्प का वरण करने की ललक तो उसमें है, पर इस प्रक्रिया को सहन करते हुए दर्द का आभास उसे कचोटता रहता है —

लिख दूं सारी बात —
किया संकल्प —
मैंने —
कितनी बार,
उंगलियों के पोरों पर

लेकिन
हर बार
उतर आई
मनहूस थकन।

— (सूर्य की एक किरण)

इस संदर्भ में कवि के व्यक्तित्व के विद्रोही पक्ष को देखा जा सकता है। यह विद्रोह स्पष्ट ही किसी उद्देश्यवाद से नहीं बंधा बल्कि अपने परिप्रेक्ष्य के गहरे पर्यवेक्षण का परिणाम है। 'नया पर्याय' प्रभृति कविताएं वस्तुतः यथार्थ के प्रति कवि की दृष्टि ऐसे द्रष्टा की हैं जो इसे खमोश भोगने को अभिशप्त है। सवाल यह नहीं कि कवि यथार्थवादी है कि नहीं बल्कि यह कि यथार्थ के प्रति उसकी अभिवृत्ति क्या है । अभिशाप के भार से कभी उसका स्वर भारी हो उठता है तो कभी वह किशोर चंचलता से उसका उपहास उड़ाता है। इतिहास की गतिहीनता, जिसे आधुनिक तथाकथित 'बहुपरिवर्तनशील' ज़िन्दगी में 'अघटना का व्यौरा' भी कह सकते हैं, कविता में चुटीलापन पैदा करता है। इससे उसमें व्यंग्य का स्वर प्रमुख हो उठता है और भाषा में पैनापन आ जाता है। पर जहां प्रसंग की स्थिति भारी हो वहां व्यंग्य भी अर्थ के भार से भारी हो जाता है —

तुम्हें ढोते मर गया —
मेरा सुनहला इतिहास,
कल ही कहा था तुमने —
हमारे ही दम से हैं —
दीपकों में आग . . . .

— (सव्यसाची कौन हो तुम)

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि का व्यक्तित्व उस वृहत्तर संदर्भ में आंका गया है जो 1960—70 के बीच नयी कविता ने निर्मित किया था और जिसमें नगर जीवन में व्याप्त अवमूल्यित ज़िन्दगी का प्रामाणिक चित्रण मिलता है। उस ज़िन्दगी ने कवि को बहुत जगह तोड़ा और कई बार उसे वरण, प्रतिबद्धता और विवशता के जैसे प्रश्नों के सम्मुख खड़ा कर दिया। यह ज़रूरी नहीं कि अहिन्दी प्रदेश की कविता का रचना संसार हिन्दी प्रदेश से अलग या कुछ पीछे हो, पर इतना ज़रूर है कि हिन्दी प्रदेश में जब कोई नयी विचार सरणि या काव्यप्रवृत्ति स्पष्ट स्थापित हो जाती है तभी ऐसे उपर्युक्त प्रश्न फैल कर संक्रमण करते हैं और अहिन्दी प्रदेश में भी हिन्दी रचना की कई समानान्तर सरणियां निकालते हैं। क्रिया प्रतिक्रिया तथा

संथापना की इस श्रृंखला में समय लगता है। इतना ही समय समकालीन काव्य प्रवृत्ति को भौगोलिक दूरियों में व्याप्त होने में लगता है। 1960 तथा 70 के बीच की रचना सरणि को फैलने में और इस अहिन्दी प्रदेश में आने में जो सामयिक और भौगोलिक अन्तराल तय करना पड़ा होगा उसको श्री गुप्त तत्काल नहीं लांघ सके थे। बीसवीं सदी की सत्तरोत्तर कविता उस कटुता से मुक्त होने के प्रयास में थी जिसके कारण सातवें दशक को अनिर्णयात्मकता ने घेरा था। इससे पूर्व चौथे दशक में छायावादी कविता ने कोमल श्रोतृप्रिय स्वरों में रचना की थी। आगे चलकर आठवें दशक के अन्त के साथ ही यह कविता काफी सेट्ल होने लगी थी। शब्द प्रयोग में सावधान मितव्ययता और अर्थ की पारदर्शिता आने लगी थी। व्यंग्य तीक्ष्णतर हुआ, पर लहजा कटु नहीं रहा था। उस समय के बिम्ब विस्तृत अर्थ की अपेक्षा एक केन्द्राभिसारी चुभन देते हैं।

' सेतुओं की खोज मे श्री गुप्त कहीं–कहीं बिम्ब की आधारभूत कसावट की ओर उचित ध्यान दे नहीं पाते, अतः यह वृत्तात्मक हो जाता है। बिम्ब का घनत्व और प्रभाव–तीव्रता जाती रहती है क्योंकि विशेषणपद लम्बा ओर वर्णनात्मक हो जाता है। 'चट्टानों का दृश्य' – बताते हुए उन चट्टानों की विशेषताएं – (वे) ' सूरज की घूप में जली', ' पानी के थपेड़ों से बुझी' और 'कंकाल बनी' हैं – (मैं नहीं जानता)। 'भोर से सांझ तक " पूरी कविता में एक ही बिम्ब उकेरने का प्रयास है। ऐसी कविता कहानी का प्रभाव दे सकती है पर वह प्रभाव कविता जैसा तीव्र नहीं रह पाता। शायद ऐसी कविताओं की रचना प्रक्रिया में अनुभूति का क्षण उतना केन्द्रोन्मुख नहीं होता। कभी तो ऐसी कविता विरोधाभास की प्रक्रिया के सहारे गढ़ी जाती है। जो कविता केवल बयान (स्टेटमेंट) देने की सम्भावना से बच नहीं पाती वह साधारण हो जाती है। उसमें नयी कविता की रूढ़ शब्दावली तथा उस शब्दावली में गढ़े गये रूढ़ नारों की गूंज भी सुनाई देती है (इस मशीनी गड़गडाहट में, व्यथा निदेवन आदि)

यह ज़रूरी नहीं कि गीत आधुनिक संवेदना को संवाहित न कर पाये पर यह सत्य है कि गीत वस्तुतः उस अनुभूति को संगीत के आयाम से सजाता है जो विचार भूमि पर कविता द्वारा पहले ही स्थापित हुआ होता है। यह सत्य है कि जिसे नवगीत कहा जाता है वह उसी भावभूमि पर रचा गया है जिसे नयी कविता दो दशक में बना चुकी थी । इस सत्य का दूसरा पहलू यह है कि कुछ भी हो गीत छायावादी–रचना में ढलकर परिपक्वता की ऐसी स्थिति प्राप्त कर चुका है कि छायावादेतर भावना का संवाहक होने में इसे और कुछ चरण पूरे करने होंगे, काफी

बदल जाना होगा। श्री गुप्त के गीत प्रखर नहीं हैं यद्यपि इन में संदर्भों को समवर्ती स्वर में ढालने का प्रयास किया गया है। अवदान (मोटिफ या अन्तर्कथा) की समानता के आधार पर दो उदाहरण लिए जा सकते हैं :–

क) मरे हुए
चमगादड़ के डैनों से सजे हुए
बिजूखे भी नहीं हो तुम;
कौन हो तुम ?
सत्य के दावेदार,
कौन हो तुम ?

– (सव्यसाची कौन हो तुम)

ख) जो था बना बिजूखा वह धर्म खो गया है।

– (रंगों की राख)

'बिजूखा' कवि का प्रिय अवदान है, जो उनको सम्प्रेषण का एक अच्छा साधन प्रदान करता है। ऊपर 'क' में सत्य के दावेदार के प्रति व्यंग्य इतना पैना हो जाता है कि वह बड़ी सहजता से विद्रूप की सीमा तक खिच जाता है। कृत्रिम जीवन का दम्भ उखड़ के रह जाता है। बिजूखा चमगादड़ के डैनों से और भयावह हो उठता है। फिर जब सत्य का दावेदार बिजूखा भी नहीं हो सका तो उसका दम्भ भी निराधार लगता है। अर्थ की परतें खुल जाती हैं और चुभन तेज़ होती है। 'ख' में धर्म को बिजूखा बताकर जो प्रभाव पैदा करने की कोशिश थी, वह उस (धर्म) के बाद में खो जाने से नष्ट हो जाती है। यहां नीति की विशदता ने धर्म को 'खो' जाने पर मजबूर किया है क्योंकि अन्यत्र इस गीत में रंग बेरंग 'हो' जाता है, बाज़ार नीलाम करके 'सो' जाता है, आदि।

कवि ने गीत अधिक नहीं रचे हैं पर उनका व्यक्तित्व इनके बगैर समझा नहीं जा सकता, क्योंकि गीत उनके कवित्व का एक छोर है; दूसरा छोर है 'सभ्य' परिवेश के छद्म पर क्षोभ । गीत वाला छोर प्रेम के क्षणों से बनता है। प्रेम की विषाद तथा उल्लास वाली अनुभूतियों के बीच झूलता है कवि, पर प्रेम के चिरन्तन सत्य को कवि अपने व्यक्तिगत संस्पर्श से कोई भव्य गरिमा नहीं दे पाया है। अधिकांश प्रेम कविताएं भावुक रोमान के घेरे मे घूमती हैं।

जब भी तुम चली जाती हो
कहीं –

(दो दिन के लिए ही सही)
मैं यूं ही रो देता हूँ
अपनी कायरता को जीत नहीं पाता ।
— (एक अनुभूति)

ऐसे में सामान्यतः डर होता है कि भाषा लिजलिजी न हो जाए। 'बोधहीन' कविता का उदाहरण लिया जा सकता है। इस में कवि का मशीनी सभ्यता में बोधहीन हुए मन की संवेदनहीनता (इंसेंसिटिविटी) को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है। कवि को लगता है कि बोध की चेतना को उन्होंने इस कद्र खो दिया है कि भीड़ ऊपर से गुज़रती है और किसी चुभन का आभास नहीं होता। मगर बोध शून्यता का चित्रण करते हुए कविता में जो मुहावरा प्रयुक्त हुआ है वह कवि के काफी 'सेंसिटव्ह' होने का ही नहीं बल्कि ' सेंसुअस' होने तक का आभास देता है :—

तुम्हें छूने से रामोंच नहीं होता . . . .
\+ + +
तुम्हारे अंगों से स्नेह भरी महक नहीं आती
बहुत पास आने पर भी . . . .
\+ + +
हर मासल स्पर्श
रेतीला भुरभुरा लगता है . . . .
— (बोधहीन)

वास्तव में ऐसी रचना स्थिति में कवि प्रसंग के पारम्परिक मानसिक वातावरण से मुक्त नहीं हो सका है। उसकी दृष्टि निस्संग नहीं हो सकी है। नितान्त आत्मीय क्षणों को आत्मीय भाषा दे पाना सामर्थ्य का द्योतक होता है। उपर्युक्त कविता के अतिरिक्त ऐसे ही उदाहरणों वाली कविताओं में 'समायोजन' उल्लेखनीय है। इसमें कवि 'बदबू' जैसी 'अवांछित— चीज़ को भूलने के लिए "उभरता . . . . तुम्हारा वक्ष, जिस पर से जानबूझ कर तुमने आंचल सरका दिया है " का सहारा लेता है। यहां भाषा केवल वर्णन कर पाती है, उसमें वे अर्थ छायाएं या व्यंजनाएं नहीं आ पातीं जिनसे प्रसंग की अर्थवत्ता अधिक व्यापक संदर्भ में ली जा सके। जानबूझ कर आंचल सरकाने में ही आकर्षण पाने की कवि की वृत्ति 'कितने अंतराल के बाद' नामक कविता में भी दिखती है जहां ' अन्धेरे की हर पर्त चिलम

बन के ' घिरने में सौन्दर्य वृद्धि दिखती है। रहस्यमयता का वातावरण कवि को प्रिय लगता है।

कवि की सशक्त कविताओं में ' सेतुओं की खोज', 'दुर्भाग्य', ' बस एक घड़ी बाद', 'एक एब्सर्ड शाम' तथा 'सड़क पे खड़ा एक बेजान कंधा' है। इनमें उनकी रचना प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि चिन्ह मिल जाते हैं। 'सेतुओं के बीच' कवि की स्वेच्छापूर्ण सामाजिक भूमिका का किसी होहल्ले के बगैर स्वीकरण है, 'दुर्भाग्य' में अपनी अशक्त स्थिति तथा परिवेश की नकली चकाचौंध पर अच्छा व्यंग्य किया गया है। 'बस एक घड़ी बाद' में कवि अपने अति संवेदक मन से खुद अपने युग की गति के सामने एक अबूझ प्रश्न चिन्ह बन कर खड़ा हो जाता है। ' एक एब्सर्ड शाम' कवि द्वारा कथा तथा कथन शैली पर पाए गए अधिकार की प्रतीक है। 'सड़क पर खड़ा एक बेजान कन्धा' फिर उसी युग को उघाड देती है जिसने मनुष्य को निरीह बना दिया है। इस का व्यंग्य गहरे चुभ जाता है।

इस प्रकार' सेतुओं की खोज' का कवि हिन्दी प्रदेश से दूर इस उत्तरी क्षेत्र में समकालीन रचना की मानसिकता का एक उत्तम उदाहरण पेश करता है। समकालीनता के प्रति सचेत खुलापन उसकी परवर्ती कविता में तीव्रतर रूप में सामने आया । अपने विषय और थीम के निर्वाह के प्रति ओम गुप्त सदा सचेत रहे हैं, इसलिए उनका काव्य मुहावरा विषय को (जब उसकी जड़ें इतिहास या परम्परा में हों, तब भी) ताज़ा अर्थों तक ले जाने में सक्रिय होता है। इतिहास तथा अतीत की महनीयता के प्रति उसकी अभिवृत्ति एक उत्सुक शोधार्थी की सी रही है और इससे उनकी परवर्ती कविता (जिसमें अरुणोदय' जैसी लम्बी कविता भी है) एक सहानुभूति सम्पन्न उद्भावक कवि की कविता है। और उस सब को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए 'सेतुओं की खोज' का अध्ययन महत्वपूर्ण हो उठता है।

•

शब्द अर्थ और सामयिकता का प्रसंग *

संवेदनशील और सक्रिय रचयिता होने के नाते कवि से यह अपेक्षा की जाती है कि वह पाठकों के बीच अपना प्रभाव चक्र पैदा करें, जिसमें पड़ कर वे कुछ आन्दोलित अनुभव करें, उनके मानस में एकाध लहर पैदा हो। कवि और उसके पाठक का यह सीधा रिश्ता वर्तमान के घेरों में बनता है, पर पानी में कंकड़ डालने से पैदा होने वाले वृतों की तरह फिर भविष्य में कंकड़ की मार तथा बल के सीधे अनुपात के साथ फैलता ही जाता है। इसीलिए रचयिता से समय–चेतना तथा समय दृष्टि की अपेक्षा की जाती है। वर्तमान के आवेगों से या आवेग शून्यता से बिघा संवेदनशील मन अपने परिवेश के अनायास आकलन में शामिल हो जाता है, तो उसकी सही दृष्टि का सवाल उठता है। सही दृष्टि यानी एक ऐसी अभिवृत्ति या एप्रोच जो अपने समय की दुखती रग पकड़ने में उसकी सहायक हो। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वर्तमान में इन्वाल्व होना तथा इस इन्वाल्वमेंट के लिए समय सिद्ध विचार– ये दोनों कविकर्म तथा सम्प्रेषण धर्म के लिए समान रूप से आवश्यक हैं।

जम्मू में जन्मे, उत्तर प्रदेश में शिक्षा प्राप्त चिकित्सक कवि 'आदर्श' की कविताओं के दूसरे स्वतन्त्र संग्रह 'चौराहे की आग' के बहाने हम कवि–कर्म के कुछ सामयिक प्रश्नों को ले सकते हैं। 'चौराहे की आग' नामक कविता इस प्रकार शुरू होती है :

दर्द जब/सामूहिक स्वरों में ज़ाग उठता है/ हर बात की तरह यह ज़रूरी नहीं कि वह आंसुओं का सैलाब बने/ मुझे अब यह विश्वास हो गया है/

* प्रसंग : चौराहे की आग' डॉ0 आदर्श

हर अन्धेरे चौराहे की वह आग बनेगा . . . .

बात दर्द की कही गई है, जिसके साथ कवि की तीक्ष्ण संसक्ति है, जो वह अपने विश्वास का हवाला देकर कहता है। दर्द से मुक्ति की राह सामूहिक स्वर में दिखती है जो चौराहे की आग बनेगा। यानि कि मुक्ति की यह प्रक्रिया शीघ्र ही परिणति को पहुंचने वाली है। शीघ्रता का आंतरिक दबाव जगह–जगह मौजूद है – इस कविता में भी, अन्य कई कविताओं में भी। 'कुते' में :

सुनो / मुर्गो की पहली बांग/एक गवाही सी फूट रही है। सुबह की पहली किरण/ . . . .

जबकि आरम्भ में कविता मे कहा गया था कि : अब और नहीं बैठा जा सकता/ सुबह की प्रतीक्षा में । . . . । 'रौंदे जाने के बाद' में पुलिस द्वारा अखबारी खबरों का निराकरण करने के लिए किए गए जुल्मों के वर्णन के बाद कवि का अदम्य विश्वास है कि शीघ्र ही एक क्रान्ति आने वाली है। 'पुलिस : इस बात से बेखबर, कि इन्हीं गलियों के नीचे, एक मज़बूत ज़मीन है। जिसके भीतर बार–बार रौंदे जाने की गर्मी जमा होती जा रही है/ लगातार . . . .

यहाँ दो प्रश्न उठते हैं । एक यह कि परिवेश में असन्तोष और विषमता की चेतना इतनी गहरी हो उठी है कि कवि को दमितों, पीड़ितों की बेचैनी में कोई कलात्मक उपक्रम दिखाई देता है। दूसरे यह कि यदि मामले की यह गहराई मौजूद है, और संवेदनशील कवि उससे आन्दोलित हुआ है, तो फिर उन प्रेरणास्रोतों की स्थूलता पर विश्वसनीयता का प्रश्नचिन्ह नहीं लगता जो कुल मिला कर इस कविता संग्रह की तथ्यपरक प्रामाणिकता के संदर्भ है।

इसमें सन्देह नहीं कि समकालीन दमनचक्र स्पष्ट तथा चालाक है और जनतन्त्र के तमाम दावों तथा आकड़ों के बावजूद मानव मूल्यों को नेस्तनाबूद करता है, पर इस त्रासदी की चिन्ता किसे है। उन्हें जो इसकी ज़द में आते हैं वे तो अभी भी इस सब से बेखबर हैं। उस मध्यवर्ग को जो नेतृत्व कर सकता था। वह टुटपूंजिया सुविधाओं की प्राप्ति की होड़ में इतना डूबा है कि उस पर एक घातक नशा हावी है। हमारा समय इतना गति शून्य क्यों हो गया है। राजनीति में धुरियां बनी हैं और राजनीति सत्ता हथियाने और उससे चिपके रहने की विधियों का नाम हो गई है। हमारे यहां वामपंथी राजनीति भी इसका अपवाद नहीं, जो सबसे ज़्यादा दुख का कारण है। किसी आदर्श के प्रति समर्पण तथा जनशक्ति मे आस्था का अभाव नहीं, पर ये मूल्य इतने कमज़ोर हैं कि समाज की व्यवस्था में टिक नहीं

पाते। इस व्यवस्था की विशिष्टता यह है कि भ्रष्टाचार बहुत आम, सुलभ तथा सुविधाजनक हो गया है। भ्रष्ट जीवन पद्धति में ढलकर सुविधाएं सुप्राप्य हो जाती हैं तथा इसके घेरे से बाहर रह कर असमर्थता के कारण, या आदर्शवादिता के कारण – अभाव शोषण तथा उपेक्षा से ग्रस्त होना पड़ता है। यह स्थिति मध्यवर्ग की है। निम्नवर्ग उपर्युक्त नियति को भी भोग रहा है और इसके अलावा अपनी बदकिस्मती को भी रो रहा है। उसे अभी भी खुली यथेष्ट सांस्कृतिक (शैक्षिक, राजनीतिक) हवा लगने नहीं दी जा रही और छोटी–मोटी, इखरी–बिखरी सुविधाएं घोषित करके शोषण के पंजे तले दबाए रखा जा रहा है। नतीजा यह है कि हमारे यहां नियतिवाद तथा धार्मिक रिवाइवलिज़्म ही में त्राण माना जा रहा है। यानि कि सत्ता की आर्थिक सुख निद्रा अक्षुण्ण बनी रहती है। ऐसे में यदि कहीं किसी जन–आन्दोलन का सिर उठता दिखाई देता है तो वह भी अधिकांशतः किन्ही व्यवस्थापित वणिकों का खेल होता है, जो पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के मुताबिक कुछ लोगों को सुविधाओं के भोगवृत्त में घुसने के साथ ही खत्म हो जाता है। ऐसे में जो वस्तुतः दमित पीडित है, वह आंकड़ों में फिट होके निवार्य हो जाता है। सर्जनशील साहित्यकार की ऐसी स्थिति में क्रान्ति की आशा हो और लगे कि वह अगले मोड़ पर इन्तिज़ार कर रही है – कुछ असामयिक लगता है।

कवि 'आदर्श' के प्रेरणा सन्दर्भ इस संग्रह में स्पष्ट संकेतित हैं जो उनकी ऐसी कविताओं का आधार बने हैं :–

'जवाबों की तलाश' (शहर से पढ़ आने के बाद भीखू चमार का बेटा अपनी ज़मीन जोतने की कामना की पादाश में जेल भेज दिया गया) ' जो सच है ' (घीसू हरिजन को खेत के लिए पानी न देकर भाषण, वायदे और भूख ही दी जा रही है।) 'बदलती आवाज़' (अन्धेरे की सच्चाई न मान कर हम घिसते मज़दूरों को पूंजीपतियों को चुनौती देनी होगी) ' सावन और मेरा गांव' (बसंते किसान की ज़मीन हड़पी गई, हरिजन टोले को बावडी से पानी नहीं मिलता, बच्चे पढ़ने को तरसते हैं) ' बूढ़ी आंखों का स्वप्न ' (जे0 पी0 का मन बेबस तथा तन जर्जर था, पर उसका आत्मबल अदम्य था) ' एक टॉफी का सच' (हमारे देश को झूठी खबरों में लिपटी अफीम बांट कर मदहोश रखना चाहते हैं) – आदि आदि । तकरीबन सब कविताओं के स्थूल प्रेरणास्रोत हैं, जिन्हें हम आप साफ पहचान सकते हैं, क्योंकि वे हमारे रोज़मर्रा की हवा में दृश्यमान प्रदूषण की तरह बहते रहते हैं। उनके अस्तित्व मे सन्देह कौन कर सकता है? पर यह रोज़मर्रा अखबार मे तथा क़विता में थोड़े अन्तर के साथ– संवेदना तथा अभिव्यंजना के अन्तर के साथ – दो अलग मुद्राएं धारण करता है। अखबार की उत्तमता तथ्य की तथ्यता को सुरक्षित रखने

में है, जबकि निरे तथ्य को विश्वसनीय नहीं भी माना जा सकता है। कवि व्यक्तित्व की प्रभविष्णुता तथ्य को ऐसी भंगिमा के साथ ज़ाहिर करने में है, जो कभी सपाट शब्द हो फिर भी गहरी अर्थ छायाओं में होती है तो कभी शब्द को नया संस्कार देने में ही होती है। शब्द ही कवि का फिनिश्ड प्रोडक्ट है और इसे अपने जन्म तथा विकास की तमाम कहानी कह पाने में समर्थ होना चाहिए । अपनी प्रेरणा तथा प्रामाणिकता का सबूत वह स्वयं है। कवि 'आदर्श' की कविता में कई बार शब्द ऐसा सबूत बन पाने के पर्याप्त निकट आने से रह जाता है इसलिए लग सकता है कि तथ्य ज़रूरत से ज़्यादा वाचाल है। मसलन – ज़िन्दा मिसाल है सीताराम / जिसके बारे में /पराक्रमी पुलिस इन्सपेक्टरों का दावा है / कि वह हत्या का अपराधी था / कि उसकी मौत मार से नहीं / दिल के दौरे से हुई थी / . . . . (सीता राम की मौत) धर्म के पते में / कुण्ठाओं का तम्बाकू भर / मुंह में ठूंस / सभी की ओर घुणा पिचकारते / ये धार्मिक आडम्बरी धूर्त / जैसा दोहरा जीवन जी रहे हैं / उससे कहीं बेहतर है मौत । . . . . (कि हम वक्त बनना चाहते हैं) कोई भी फार्मूला/ सरजू काका के पी0 एच0 डी0 शुदा बबुआ को / नौकरी नहीं दे पाता । . . . (कहीं कुछ नहीं होता) पर इसे बैठे ठाले स्वीकारना / हमारा टुच्चापन है, कमज़ोरी है, नामर्दी है/ ज़रूरत है न बन सके वह हमारी मजबूरी / . . . झपटना होगा अपना अधिकार / दहाडकर छीनना होगा / अपने आपको इन आदम खोरों से / . . . . पहचानना होगा / बदलता हुआ वक्त पूंजी के शहंशाहों को। (बदलती आवाज़) ।

इन सूखी पत्तियों को / प्रतीक्षा है / किसी दहकते अंगारी की / जिससे वह आग पकड़ सके / . . . . (सम्बोधन)

एक तो यह कि ' क्रान्ति' और 'आग' और 'मजबूरी' कहने के बावजूद इन शब्दों में गर्मी नहीं मिलती क्योंकि इन्हें इनके रूढ़ प्रसंग तथा प्रयोग के स्तर से ऊपर उठाने की कोशिश नहीं हुई है। ये शब्द 'रिडनडंट' भी लगते हैं। जैसे 'आदमी के भीतर का आदम खोर' में शीर्षक के स्वयं व्याख्यायित होने के बाद तथा वर्णन–विवरण के बाद यह कहना अनावश्यक था कि :– इतने लज़ीज़ भोजन को (अर्थात् बच्चे का भुना गोश्त जो उसने पड़ोसी के जलते घर से हासिल किया था) – बिना ईंधन खर्च किए/ पा जाने की खुशी में / ठहाके लगा रहा था . . . . . ' चौराहे की आग ' में :– सवाल सिर्फ इतना है/ कब हम अन्याय सहते अपनी अकेली चुप्पी को . . . दमन के विरोध में . . . . / ' भिवण्डी में दंगे ' :– . . उभरता है वही तीखा सवाल / कब / आखिर कब होगा खत्म / नफ़रत का यह मज़हबी उबाल । . . . ।

इस बहस के आरम्भ में जो बात कही गई थी कि कवि की प्रभाविता उसकी अपने समय में इन्वाल्वमेण्ट से पैदा होती है, जिसकी निष्पत्ति भाषा के अभिधात्मक प्रयोग को संक्रमित (ट्रांसेण्ड) करने में होती है, उसकी एक तीव्र ललक कवि आदर्श में मौजूद है, उपर्युक्त विश्लेषण के बाद भी यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती। इन कविताओं में जो परिदृश्य (पैनोरामा) खिचा है, उसमें स्थूल और बोल्ड रेखाओं के बीच कई ऐसे सूक्ष्म स्थल मौजूद हैं जो प्रिय लगते हैं क्योंकि उनमें कवि की अनुभूति सहज और लहजा सटीक है। विचारधारा उससे केवल फार्मूला और आंकड़े नहीं बुलवाती, बल्कि उसकी समय चेतना तथा दिशा–बोध का भान कराती है। . . . . वह देश का भविष्य नहीं/ तमाम तरह की प्रगति से अलग–थलग पड़ा। अपने इस स्कूल के गांव सा वर्तमान है। ... (यथार्थ बोध) . . . वह कौन सी रासायनिक प्रक्रिया है जिसमें रोज़मर्रा का आदखोर पन्नों पर उतरते ही मसीहा बन जाता है। . . . (उस आदमी की तलाश) सहना भी एक गुण है/ और इस मामले में हम सभी बेहद गुणी हैं/ (कहीं कुछ नहीं होता) सहजता को अक्षुण्ण बनाये रखने में कवि ने यदि जल्दबाज़ी करके उसे परिपक्व नहीं होने दिया है तो इससे अनजाने में अभिव्यक्ति की मासूमियत भी झलकती है, जो कवि को सहानुभूति के साथ समझने में सहायक होती है। कविता उस बूढ़े किसान की तरह मासूमियत से कहती है, बाबू जी / आपके और हमारे बीड़ी पीने में भी फरक है / बुरा न मानना/आप तो यूं अपनी ज़िन्दगी और वक्त फूंक रहे हो/और हमारे जैसा किसान इससे अपनी थकान फूंकता है/ (जिजीविषा) और सीमा पर लड़ते सिपाही के तथा–कथन में मासूमियत के बावजूद व्यंग्य प्रखर हो जाता है :' नहीं पिता / इससे (अर्थात् 'वीरगति' पाने से) पहले / कोई जनरल / नहीं करता याद / किसी के भी पिता को / अतः कुछ भी न पहुँचे / . . . कि देश का कानून / सभी के लिए हो गया था बराबर / कि लगातार बीस सालों से कर रहे थे न्यायाधीश /उनकी अपील पर विचार (अनजान लोग) ऐसी कविताएं सादगी से बड़े पते की बात कह देती हैं, और हमें विश्वास होता है कि कवि की वैचारिक दिशा सही है, वह आम आदमी के दर्द तक पहुँचने को प्रतिबद्ध है। उसकी यह स्वीकारोक्ति अच्छी कविता का भी उदाहरण है : ' मैं सफलता के पहले सोपान की सिहरन। अपने तलुओं में महसूसता हूँ / . . . (एक पत्र एक सवाल)

महसूसने को शब्द दे पाना वस्तुतः अर्थ और अभिप्रेत की ऊंचाई तक पहुँचने का सोपान है और पहला क़दम डगमगा कर ही सही, उठाया जाये तो बहुत होता है।



छिनी नदी* को वापिस पाने का एक सांस्कृतिक उपक्रम

कवि अग्निशेखर का कविता-संग्रह " मुझ से छील ली गई मेरी नदी " पहले अपने नाम से हमारा ध्यान कवि की ज़बर्दस्त अभाव चेतना की ओर आकृष्ट करता है। कवि छिन जाने के एहसास से ग्रस्त है ही पर हमसे यह बात ऐसे कहता है कि हम करुण हो उठें। वास्तव में कवि अग्निशेखर की कविता का पहला उपक्रम यही है कि एक व्यापक करुणा के विस्तार में हम सबको शामिल किया जा सके। सब को शामिल करने के इस उपक्रम के पीछे कुछ आलोचक कवि के राजनीतिक व्यक्तित्व का हस्तक्षेप देख सकते हैं, पर वस्तुस्थिति उसके बिल्कुल विपरीत है। जैसे ऊपर कहा गया है कि कवि की व्यापकता का क्षेत्र करुणा का है और वह एक सार्वभौमिक तथा सार्वजनिक करुणा में सब को शामिल करके संवेदनशीलता के लिए भूमि तैयार करता है जो किसी भी दृष्टि से कोई गैर साहित्यिक उद्देश्य नहीं है। यों भी जो अग्निशेखर को उसके राजनीतिक तेज के क्षणों में देख चुके हैं उन्हें इस अभी-अभी के राजनेता में किसी भी प्रकार के टाइप राजनेता का प्रतिरूप नहीं दिखा होगा। अपनी बात को शुद्ध राजनीतिक वस्तु (कंटेट) प्रदान करते हुए भी उसे राजनीतिक छद्म तथा राजनीतिक डंक से कैसे बचाता है यह और उसे सांस्कृतिक छलहीनता से सम्पन्न करके कैसे ताज़ा मुहावरा देता है इसी प्रक्रिया में अग्निशेखर का राजनीतिक व्यक्तित्व बनता है और यह उसके मूलतः

---

* अग्निशेखर : " मुझ से छीन ली गई मेरी नदी' के संदर्भ में

रचयिता व्यक्तित्व का विरोधी नहीं। खैर यहां इस प्रकार के विरोध या सामंजस्य का विश्लेषण करना हमारा उद्देश्य नहीं ।

अग्निशेखर का उपक्रम वस्तुतः सांस्कृतिक है। देखा जाय तो यह और कुछ हो ही नहीं सकता। वह संस्कृति में आविष्ट होने की हद तक रचा बसा है औरे उससे कट जाने का अप्रत्याशित झटका उसे व्यक्तिगत त्रासदी को सार्वजनिक त्रासदी के आयाम देने को मजबूर करता है। वेतन छिन जाने की त्रासदी को सार्वजनिक आयाम देने का प्रयत्न कठिन नहीं क्योंकि यह कई लाख लोगों की है, पर नदी, पहाड़, बर्फ, चिनार जैसे स्थिति–चिह्नों (लैंड मार्क) का छूटना सबको नहीं कोंचता। ये चिह्न कवि के मन में आदि चिह्नों की तरह तथा अविरल शाश्वतता की तरह इन कविताओं में मौजूद हैं। ये कभी कवि को बुलाते हैं और कभी कवि अपनी स्मृति का मंथन करके उन्हें अपने वर्तमान का साक्षी बनाता है।

स्मृति हमारे व्यक्तित्व का एक रचयिता संस्थान है। जब यह हमारी निजी सम्पत्ति की तरह गोपनीय होती है तो भी वह एक सार्वजनिक अनुष्ठान का अंग होती है। और जब यह हमारे सामूहिक जीवन को घेरती है तब भी यह हमारे व्यक्तिगत क्षणों में हस्तक्षेप करके उन्हें भरापूरा बना देती है। दोनों स्थितियों में स्मृति एक सांस्कृतिक कर्म करती है। कविता यों भी एक सांस्कृतिक उपक्रम है क्योंकि यह परिष्कृति होती है और कवि को संस्कृति में और पैठा देती है। स्मृति अभी बीते क्षण की पुनरस्थापना के रूप में मौजूद हो या हज़ारों वर्षों के मानवीय अदिरूप (आर्कीटाइप) से कुरेद कर अपनी इयत्ता की पहचान के रूप में; हर स्थिति में वह एक बृहत्तर सांस्कृतिक उपक्रम का अंग होती है। प्रस्तुत काव्य संग्रह मे कवि हमें बार–बार अपनी स्मृति से जोड़कर अपने वृहत्तर परिवेश को देखने की यात्रा पर ले चतला है हालांकि उसके साथ यात्रा करना कोई बहुत सुखद अनुभव नहीं। यहां हमें बुर्ज़ाहामा का पांच हज़ार वर्ष से अधिक पुराना एक सोया हुआ गवाह मलेगा जो बताएगा कि सभ्यता के विकास में पहली बार उसके सूई धागा का प्रयोग कर सकने के बावजूद उसकी सन्तान आज फटे हुए लिबास में भटक रही है। यहां लाखों वर्षों से वितस्ता बहती आ रही है जो अब सिर्फ हमारी निष्पाप अस्थियां बहा कर ढोने वाली नदी है। यहां चिनार हैं पर उनकी हवा कवि के बस में नहीं कि बीमार मां के लिए जुटा सके। यहां बच्चे का सूरज को मुट्ठी में लेने का अर्थ कोई महान उपलब्धि नहीं बल्कि अपनी किलकारियां झुलसा देना है। इस दुख का अन्त नहीं क्योंकि यह यात्रा कहीं आगे नहीं पहुचाती बल्कि कभी किसी काले समुद्र में विलीन होने के लिए लौटती हैं। कवि असहाय देखता रह जाता है

और हम उसकी करुणा में शामिल हो जाते हैं। कवि की यह स्मृति हमेशा अतीत के घटनाओं की स्मृति नहीं बल्कि समकालीन वस्तुस्थिति की भी है जो तीव्रता के कारण हमारे ज़ेहन में स्थाई चिह्न छोड़ जाती है। कवि जब उग्रवादियों से अपना अपहरण करने की प्रार्थना करता है तो वस्तुस्थिति की विद्रूपता वाचाल हो उठती है –

दफन करो कहीं मुझे / नदी के किनारे / बर्फीले पहाड़ पर ।
मै तरस गया हूँ । अपना ज़मीन के स्पर्श के लिए ।

और जब हताहत शरीरों को जिलाद`ने के लिए नर्स सरला भट्ट खून देने के बावजूद कत्ल कर दी जाती है या सुमित्रा की निर्दोषिता के बावजूद उसे जीप घसीटती ले जाती है तो कुरूपता और भी ज़ाहिर हो उठती है। ऐसे मौकों पर भाषा पारम्परिक सांस्कृतिकता का बाह्य खोल उतारकर अभिव्यक्ति के समकालीन मुहावरे में बोलती है :–

मिलता है अस्पताल की सड़क पर पड़ा / उसका मथा गया शव ...।
तथा हम तो बोलते हैं झूठ / कि पहले उसके साथ
किया गया था बलात्कार ।

इस प्रकार की वाचालता किसी ऐसे संदर्भ में सरलीकरण लग सकती है, जहां कवि की कविता आयोजन का रूप धारण करती हो, कि जिसमें शामिल होने वाला एक एक व्यक्ति यह सन्देश साथ लेकर ही जाए कि आगे जब भी उसे बुलाया जाएगा, वह ज़रूर जाए और कवि की निर्धारित लक्ष्य–प्राप्ति को सफल बनाए। पर यहां कवि का अपना दर्द इतना सर्वग्रासी है कि अन्य क्षणों में भी अपने ही केन्द्र के गिर्द घूमता हुआ अपने जाल को और संग्रथित करता चलता है। वहां भाषा सतही हो जाती है पर बात सतही नहीं। इसका एहसास हुए बिना नहीं रहता । जैसे यह कि हम पहाड़ों से उतर कर दल दल में धंसते जा रहे हैं, का बयान देकर कवि जब दलदल को सन्नाटे के भावशून्य जगत के रूपक का दर्जा देता है तो उसकी आभ्यंतर तड़प का अन्दाज़ा होता है। या वह अन्धेरे में किसी तरह बचाई जीवन की लौ का घोष करता है तो उसके घोष की ध्वनिहीनता की भी पीडा छिपी नहीं रहती, जब अपने दैन्य की बात करते हुए कहता है कि हम वस्तुतः खत्म हो जाने के खिलाफ मूक खड़े थे। इस प्रकार के बेआवाज़ बयान ललद्यद, नुन्दऋषि, सफदरहाशमी, कश्मीरी मुसलमान, संजना कौल जैसे जाने पहचाने नामों से जुटी कविताओं को कमज़ोर नहीं बनाते क्योंकि कविता बयानबाजी के ज़ोर पर नहीं

बल्कि बयान में भी उधड़ जाने वाले कमज़ोर अंश को रोशन करने के उद्देश्य से लिखी गई होती है।

समय ने आंखें तरेर कर कितना पक्षपात किया
उन निरीह लोगों के साथ
जो भाग नहीं सके रात के अन्धेरे में दबे पांव ।

ध्यान दीजिए यहां पक्षपात किसी हित के लिए नहीं किया गया है क्योंकि वे निरीह लोग अभिशप्त हैं, खुले दरवाज़े पर खड़े सूनेपन के साथ जीने को। जम्मू में कश्मीरी मुसलमान को सीधे देखने से कतराती हैं आंखें। हम एक दूसरे को नहीं चाहते हैं पहचान लेना, इस शहर में, लेकिन इस अजनबियत में मन की कमज़ोरी छिपी नहीं रहती है और ठिठक जाते हैं पांव कि पूछें कैसे हो भाई । सफदर हाशमी के खेमे के बुद्धिजीवी वामपंथी बेमन सुनते हैं कवि की व्यथा कथा और गढ़े गढ़ाए शब्दों में इस कथा को साम्प्रदायिक कहकर छुट्टी करते हैं जबकि कवि अनायास सफदर की याद से " त्रिवेणी के रेस्तरां में चाय की प्याली में / आंसू की एक बूंद को टपकने से रोक नहीं सकता । नुन्द ऋषि को याद करते हुए कवि एक आप्त प्रतिक्रिया देता है कि ललद्यद का दुबारा नुन्द को पिलाया गया दूध " आज भी ज़िन्दा कविताओं के रूप में फूटता है "। पर इस बयान सी लगने वाली प्रतिक्रिया के पीछे कवि की अनुभूति की शिद्दत का अन्दाज़ा तब होता है जब यह च़्रारे शरीफ के सन्त कवि को आश्वासन दिलाता है कि –

मैं स्थगित करता हूँ / एक बार तुम्हारे पास रोने की तमन्ना/
और पेश करता हूँ तुम्हारे लिए / अपना धडकता हुआ कंधा /
जिस पर तुम भरोसा कर सकते हो ।

च़्रार जाकर रोने की तमन्ना लेकर कितने विस्थापित यहां (जम्मू–दिल्ली में)दिन काट रहे हैं यह कहने की ज़रूरत नहीं। सह अनुभूति और करुणा की बुनियादी मानवीय भावना की व्याप्ति समान होगी और नुन्द ऋषि को भी गले मिलकर रोने के लिए सिर टिकाने के लिए एक धड़कते हुए कन्धे की ज़रूरत महसूस होती होगी यह बताकर कविता एक नितान्त व्यक्तिगत भावना की कविता हो जाती है। इसी तरह कवि ललद्यद के वाकों (चतुष्पदियों) के रूपकों में अपनी पीड़ा व्यक्त करता है तो अपनी कविता को इस अत्यन्त लोकप्रिय कवयित्री के साधारणीकृत वाक्यों की व्याख्या भर हाने नहीं देता बल्कि उनको अपने अर्थ की गरिमा देता है :–

तुम्हें तो विश्वास है कि उस पार है तुम्हारा घर /
जिसके लिए हो मेरी ही तरह बेचैन
पर मेरे घर का शेष है
अस्थि विसर्जन

अग्निशेखर की कविता के परिवेश और (व्यक्ति चरित्रों) में संत्रास और वीभत्सता की वजह हिन्दी की अकविता की तरह कोई आयातित परिकल्पना नहीं बल्कि उसकी अति संवेदनशील आत्मा में है। न ही यह प्रगतिवादियों की ज़बान में कहें तो किसी रुग्न मानसिकता का द्योतक है, क्योंकि जीवन को उसकी सम्पूर्णता के साथ बचाए रखने की ललक इन कविताओं में कभी मद्धिम नहीं पड़ती । यह ललक रोमांटिक हद तक फैल सकती है, किसी आत्महंता स्थिति का कारण नहीं बन सकती। वतन बार–बार विविध रूपों में कवि की आंखों में कौंध जाता है और वह अपना सारा आत्म उस पर उंडेल देता है। वतन उसके लिए एक पीछे छूटा पर सदा साथ रहकर उसे कोंचते रहने वाला सच है जिसे लोगो ने अपनी मायोपिक नज़रों से कभी कुछ तो कभी कुछ परिभाषित किया, पर जिसका सत्य केवल उसने खुद भोगा तथा झेला। इसलिए कविता बेबाक हो जाती है और शान्त समुद्र में हुए विस्फोट की तरह पानी की सतह को मटमैला कर देती है जिसमें हमें जल तल का सच तैरता दिखाई देता है।

मैंने संकट की वेला में गायब
वामपंथियों, कांगरेसियों को ढूंढा
और जाने दिया
शरणार्थियों को आर0एस0एस0 के राहत कैम्पों में
अथवा अथाह वेदनाओं के मंथन से
अडवाणी के हिस्से में आया / इस बार मेरा अमृत
बदल गया मैं उसके लिए इन्द्र के घोड़े में ।

यह आत्मदया का भाव नहीं बल्कि जिजीविषा को समकालीन हवाले से सत्यापित करने का उपक्रम है। ऐसा न होता तो कवि मुजाहिद (आतंकवादी का आदरणीय नाम) से न पूछता : इस औरत की बन्द मुट्ठी में / यह किस बच्चे की उंगली है। .. . . . तब उसकी कविता में शरणार्थी टेंट का बच्चा मुर्दा भैंस के कंकाल में छिपाकर अपनी पतंग नहीं रखता, क्योंकि तम्बू से उठ गया है / उसका विश्वास ।. . . . . . यहां कवि की संसक्ति (इन्वाल्वमेंट) उसे जुनून नहीं

देती, बल्कि एक संजीदा मन से खुद को जिलाए रखने की अभीष्टता से उसे हरा देती है :–

बरसों लम्बी संकरी सुरंग में
टटोलते हुए एक एक कदम
हम दे रहे हैं कितने इम्तहान
फिलहाल सरक रहे हैं हम
सुई की नोक जितनी
रोशनी की तरफ ।

क्या यह एक सांस्कृतिक उपक्रम नहीं ?

•

समक्ष

किताबें
मेरे मन माथे की सीवन / उधेड़ कर
शब्द शब्द / छूट रही हैं
नहीं जानती
किसी आकाश का गुण बनना
नहीं मानतीं
निर्वात में किसी आत्मा का बनना
सपना
मेरे विमुख मित्रो
शब्दों
मंजूर तो होगा मेरे समक्ष
मेरे शेल्फों के दीमकिया नक्शों में
छपना ?

•

वक्त के सामने खड़े होने की सार्थक मुद्रा *

एक बहुत ही प्रभावी प्रयास के साथ " यह समय कविता का नहीं " अपने समकालीन सच और झूठ को समझने और परखने वाली कविताओं का संकलन है। ये कविताएं प्रभावी होती हैं, हमें चौंका कर अपने अनदेखे परिवेश के असली रूप को दिखाने का प्रयास इनमें है, क्योंकि ये एक निश्चित दृष्टिबिन्दु के आसपास रची गई है। अयाचित विस्थापन के परिणाम को झेलता हुआ कवि-मानस वह बिन्दु है, जहां से समकालीनता के किसी भी पूर्वग्रह को पूरी तरह से न स्वीकारा गया है और न एकदम रद्द किया गया है। अपने अनुभव और अर्जित भाषा को लेकर महाराजकृष्ण सन्तोषी अपने समय की परिभाषा करने का बीड़ा उठाता है और अपने चारों ओर दलालों की ऊंची से ऊंची लगने वाली बोलियों के शोर में हतप्रभ हो जाने की नियति से पीड़ित हो उठता है। पर इस पीड़ा में पराजय नहीं, थोड़ी देर तिलमिला देने वाला दर्द है क्योंकि कवि इस सत्य के प्रति चेतन बना रहता है कि यह समय संवेदना की धार को भोथरा तो बना सकता है, संवेदनशील आदमी को चेतनाशून्य नहीं कर सकता। चेतना का आश्वासन इस संग्रह की हर कविता देती है और यही कवि का मुख्य सरोकार है।

अपने वक्त को पहचानने के हमारे हथियार क्या हैं ? क्या हम पारम्परिक मूल्यों या दृष्टियों को कसौटी बनाकर उन पर खरे उतरने वाले को सार्वकालिक और सच मानें तथा उसी पर ईमान लाएं ? या फिर हमारे हथियार भी हमारे समय की ही उपज हैं और समय की ही तरह बेचेहरा और प्रभावहीन होके रह गए हैं।

---

* आधार ' महाराजकृष्ण सन्तोषी : 'यह समय कविता का नहीं '

कविता एक नितान्त सीमित घेरे के भीतर एक भावात्मक प्रतिक्रिया होती है और शब्द पर निर्भर होती है। शब्द को चेतन बनाने के लिए हमें अपनी तमाम रचनाशक्तियों को इस्तेमाल करना पड़ सकता है तभी कविता सीमित घेरे की उपज होने के बावजूद पूरे समकालीन विस्तार का सब से प्रामाणिक दस्तावेज़ होती है। केवल कविता में रचयिता खुद अपने आपको नंगा करके रख देता है, आप चाहे उसे नंगा नहीं भी देखना चाहें। महाराज सन्तोषी के प्रस्तुत संग्रह की कविताएं समकालीन आदमी की समर्थताओं तथा असामर्थ्य के परदे उघाड़ कर भी रख देती हैं और उसकी बेबसी की तस्वीर भी पेश करती है, यों कि आप न उसे दोषी बता सकते हैं न हीं निर्दोष । वह किसी अव्याख्येय नियति का दास भी नहीं बल्कि समय के ठीक अपने वक्त के पड़ाव पर खड़ा अपने जाने बूझे परिवेश से जूझने का अभिशाप झेल रहा है। उसके लक्षण क्या हैं ? " महाराज कृष्ण सन्तोषी / कवि से अधिक / एक हिन्दू नाम बनके रह जाता है ।" सच का डर यहीं से शुरू होता है। बोल नहीं पाता, झूठ बोलने की पेशेवराना चालाकी सीख नहीं पाता। और यदि स्मरण करे " कोइ टुकड़ा साहस / या प्रतिरोध का कोई आधा संवाद " तो अपने आप से डरने लगता है । इस आदमी ने जब भी संकीर्णताओं से उभरने की कोशिश की तो संकीर्णताओं से जुड़े हुए हित वालों ने उसे बहिष्कृत किया – " धब्बे प्रतीत होने लगे मेरे आदर्श" तथा " स्मृतियों की चहचहाटों के बीच वह उल्लू सा " मूर्ख दिखाई देने लगा। वह भी ' प्रगति' चाहता है पर प्रगति के नित बदलते अर्थों और समीकरणों से बंधा न रह पाने के कारण खुद को अप्रासंगिक होता पाता है। मूर्तियों का टूट कर गिरना उसे भारमुक्ति तथा राहत देता है और वैतरणी को पार करने के उद्यमों में खोए सन्त लोगों की विडम्बना पर व्यंग्य करता है। फिर भी प्रगतिवादियों की सफ में उसे भूतपूर्व कामरेड कहकर ही जाना जाता है। इस प्रकार के दम्भपूर्ण वातावरण में जीता है इस कविता संग्रह का केन्द्रीय व्यक्ति। पर वह ताकत रखता है सचाई से सीधी मुठभेड़ की भी और वही उस के लिए संजीवनी है।

मैं कायर और निडर
दोनों एक साथ हूँ
मृत्यु से डरता हूँ
लेकिन जीवन बचाने के लिए
कोई भी जोखिम उठाने को तैयार हूँ ।

हमारे समय के पास हमारी सचेत स्वतन्त्र सत्ता को रौंदने का सब से आसान हथियार है सरलीकरण का । कुछ बंधे बंधाए नारे हैं। कुछ पूर्व निर्धारित

सरणियां हैं जिन पर व्यक्ति की प्रतिभा को हांका जाता है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति का सच झुठलाया जाता है। सच एकरंगा नहीं हो सकता न उसकी कोई सर्वनिरपेक्ष परिभाषा हो सकती है। ऐसे में सन्तोषी की परिभाषाएं उसकी गहन दृष्टि तथा स्पष्ट सोच का परिचय देती है। चीज़ों और रिश्तों के अति सरलीकरण ने उनको सहजता से विपन्न कर दिया है ! ऐसी प्रवृत्ति से कवि समझौता नहीं कर पाता। वह कई जगह अपने शहर अपने सम्पर्कों अपने हितचिन्तकों तथा अहितचिंतकों पर व्यंग्य करता है कि उनपर कृत्रिमता के कितने लबादे चढ़े हुए हैं। इन कविताओं का संसार मन्दिर जाते लोगों के अपराधों, राजनीतिक मसीहाओं के हिजडेपन, कंगाल तिथियों पर टिके मध्यवर्गीय जनों, शेर की दहाड़ से गूंजते जंगलों में अपना मांस पचा लेने की स्वतन्त्रता पर खुश व्यक्ति, बदन पर ताबीज़ बांधे हत्यारों तथा शराफत की मौत भोगते कवि का संसार है और ये चरित्र अपनी अपनी विरोधपूर्ण कथाएं सुनाते हैं। इन सब कथाओं को एक ही शीर्षक के नीचे नहीं रखा जा सकता, क्योंकि इन का भुक्तभोगी रचयिता इन को अलग अलग समय पर बराबर ईमानदार क्षणों में अनुभव करता है। ये क्षण उसके आत्ममंथन के क्षण हैं, भले ही चरित्र उसके शरीर से अलग अस्तित्व के स्वागी हैं। इस दृष्टि से समय की पहचान का कवि का यह उपक्रम दरअसल समय की निर्दय मार सहने के प्रति उसका मौन प्रतिरोध है।

तुम आओगी तो
मैं तुम्हारे स्वागत में रख लूंगा / अपने लहू के चिराग
मेरे लहू की रोशनी में / तुम्हें दिखाइ देगी एक पूरी पृथ्वी ।

सन्तोषी की ये कविताएं आदमी को उसका मूल्य लौटा देने के लिए बेचैनी का पूरा सामान लिए हुए हैं। राजनीति ने चूंकि आदमी को सबसे ज़्यादा अवमूल्यित किया है, इसलिए उससे कवि कभी सन्तुष्ट नहीं पर उसे अपनी ओर से गरिमा युक्त कर देने का प्रयत्न भी किया जा सकता है, इस बात पर उसे विश्वास है। यह द्रष्टव्य है कि सन्तोषी के कवित्व का आरम्भिक जोश अब ओज के या अपेक्षाकृत गम्भीरतर सचेष्टता के रूप में व्यक्त हो रहा है। कविता को पुकारते हुए कहता है कि " मेरी लौ तीव्र करने । तुम मेरे पास तो आओ । "अल्पसंख्यक होने का मतलब यह है कि " स्लेट पर लिखी बच्चे की इबारत नहीं हूं मैं । आदमी कुछ अंक बन कर रह जाए यह कवि को असह्य है – " आकाश में तैर रही है / गणित की बेनियम गंध " । पर यह पृथ्वी तो इस नियमहीनता से ग्रस्त है जब इसी कविता में अपने आपको रबड़ के पेड़ सा अनुभव करता है। वह अपना नाम अक्षरों के

बजाय अंकों में सुनने से भी विचलित हो उठता है पर करे क्या । धरती ही तो आज कल अंकों के संकेतो पर घूम रही है। ऐसे में आदमी को जब अपनी गरिमा वापिस पाने के लिए बम सा फूटना पड़े या छापामार सा विरोधी कृत्य करने को मजबूर होना पड़े तो यह कवि के लिए अस्थाई ही सही, राहत की स्थिति हो जाती है –

मुझे खुशी हो रही है
कि शराफत से थके मेरे लोगों ने
खुद ही अपने गांव की शान्ति भंग की है।

इस संग्रह की लगभग एक तिहाई कविताएं निर्वासन के दंश को व्यक्त करने वाली कविताएं हैं। छूटी हुई स्मृतियां यहां एक अभिनन्दनीय सम्बल देती हैं कवि को, उसे दयनीय नहीं बनाती। वह अपने जीवन के इस अप्रत्याशित आलोड़न से रुष्ट होने की साधारणीकृत प्रतिक्रिया पेश नहीं करता बल्कि सही प्रसंग से अचानक काट दिए जाने का प्रत्युत्तर ढूँढने में अपनी काव्य ऊर्जा का प्रयोग करता है ।" मैं ठण्डी आवोहवा को कवि हूँ।" इस संदर्भ की एक प्रतिनिधि कविता है। इसमें कवि को दिशा बोध हो गया है यद्यपि प्रसंग से कटने का दर्द उसके अन्तस में है।

केवल धूप को ही नहीं
मैं उन सभी लोगों को भी
जिन्होंने स्थगित किया है अपना प्यार
निमन्त्रण देना चाहता हूँ।

यहाँ धूप को कवि की उस आत्मीयता के पर्याय के रूप में समझना होगा, जिससे कवि का व्याक्तित्व निर्मित हुआ है और जिसे वह धूप के झुलसते मौसम में भी ढूंढ रहा है। वह कभी नहीं भूलता कि उसका जो अंश कट गया है उसने संकीर्णताओं से उभरने की जितनी कोशिश की। उतनी उसे गालियां खानी पड़ी। उसका यह चांद था धर्मविहीन एक मां थी बर्फ की बनी। आत्मीयता के अपने मुहावरे में वह फिर भी नकाबपोश आतंकवादी के कोमल अंग पर उंगली रखना चाहता है जब कहता है कि "हत्या करने के बाद भी / नकाबपोश / अपनी संवेदनशील त्वचा से / बाहर नहीं होता ।" वह अपनी विडम्बना पर खुद ही हंसता है कि उसने श्रीनगर विरासत में पाया था पर इसके आवजूद उसे आज श्रीनगर का रास्ता मालूम नहीं। विस्थापन के सीधे अनुभव की सन्तोषी की कविताओं में एक हल्का

सा प्रतिरोध हमेशा रहता है उन ज्यादतियों के खिलाफ जिनसे गुज़रने की नियति से वह बच नहीं सका। पर वह अपने जातीय संहार को भुलाकर व्यक्तिगत त्रासदी में ही अश्रु विचलित करने में विश्वास नहीं करता क्योंकि वह यथार्थ के घावों को सदा ताज़ा पाता है। " जातीय संहार के दर्पण में / मैं इन पूर्वजों को / बार बार देखता हूं / कन्धे पर कटे हुए सिर का निशान लिए हुए ।" यह अप्रासंगिक नहीं कि यथार्थ के इस वेश को याद करता हुआ कवि कभी कृपाराम दत्त के ऐतिहासिक उत्साह से अभिभूत होता है तो कभी ललद्यद के कच्चे धागे से नाव खींचने के उत्साह से । अतीत उसे सहारा देता है अपनी जीवनी शक्ति को फिर से समेटने और संजोने का।

जब ज़ोरों पर थीं आंधियां
देवता चुप थे / पत्थरों में
उस समय भी हम / बचा रहे थे
अपने बच्चों की किताबें
स्त्रियों के दुपट्टे
बुज़ुर्गों की पगड़ियां
सुगन्ध की रस्मों पर / जो रेंग रहे थे आंधियों में
मैं पूछता हूँ सब कायर थे ?

उत्साह और बल का यह एहसास एक धनात्मक मूल्य की तरह सन्तोषी की कविताओं को अपने ऊबड़ खाबड़ समय के सामने खड़े होने की न केवल मुद्रा देता है बल्कि स्वत्व की गम्भीरता भी ।

सन्तोषी की कविता की पैनी चुभन उनके प्रश्न बहुल मुहावरे में सब से ज़्यादा मौजूद रहती है और यह उनका वैशिष्ट्य है। प्रश्न में कवि की निरीहता और स्थिति की भयावहता होती है और इन दोनों के अलावा कवि की आत्मीयता का विस्तार–स्मृति का दंश लिए हुए। संतोषी की ये विशेषताएं उनके अगले संकलन 'वितस्ता का तीसरा किनारा' (2005) मे पूर्णरूपेन उभर आई हैं । वे हिन्दी कविता में एक अलग, नए स्वर के रूप में स्थापित हुए हैं।

●

अपने समय की पीड़ा उर्फ अपनी बात *

यह मानने में शायद किसी को आपत्ति नहीं होगी कि कविता का बेहतरीन क्षण वह होता है जब वह कवि की बात करती है। जब वह कवि के हर्ष और विषाद, उल्लास और कुण्ठा, आग्रह और संकोच की बात करती है। बात करने के लिए उसे बेशक अन्य की भाषा अन्य के मुहावरे का प्रयोग करना पड़ता है। अन्य अर्थात् समुदाय । सामुदायिक संस्था होने के कारण भाषा में व्यक्तिक कुछ नहीं रहता, यद्यपि उसमें व्यक्तिक अनुभव, व्यक्तिक उद्गार तथा व्यक्तिक ध्वनि संयोजन से बने शब्द की ही सम्पदा होती है। पर ऐसा शब्द समुदाय का बनते समय व्यक्ति की तमाम गरिमा खो देता है अर्थात् व्यक्ति रचनाकार के विशिष्ट देशकाल मनःस्थिति छद्म या निर्विकल्प भावोन्मेष से बना उसका व्यक्तित्व जो केवल उसका होता है, अनन्य और अपर होता है। समुदाय को देते हुए वह सचेत नहीं होता क्योंकि उसने शब्दरचना समुदाय को देने के लिए नहीं की होती है। समुदाय उससे लेते हुए उसके अपूर्व उन्मेष में अपना सामूहिक उन्मेष ढूंढने लगता है। इस प्रक्रिया में धीरे–धीरे व्यक्तिक तत्व घटने और तथाकथित लोकतत्व उभरने लगता है। लोकतत्व में व्यक्तिक की अपेक्षा ज़्यादा ताज़गी रहती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर वह ताज़गी सर्जनशील नहीं होती, बहुविध, व्यापक, रंगबिरंगी हो सकती है। सर्जनशीलता के लिए अनुभव का व्यक्तिमन के कोल्हू में पेरा जाना ज़रूरी है। लौकिकता में विस्तार है पर स्थायित्व की ठंडक है। वैयक्तिकता में विस्तार नहीं सीमा–बद्धता है पर अस्थिरता की ऊर्जा होती है। और ऊर्जा से सर्जनशीलता आती है।

---

* आधार : इक्कीसवी सदी के नाम : राजकुमार

कवि यदि नितान्त व्यक्तिक अनुभव की अभिव्यक्ति करे तो पाठक या श्रोता की उसमें रुचि क्यों हो ? स्पष्ट है कि रुचि की शर्त कविता के प्रभावी होने के लिए, वस्तुतः सार्थक होने के लिए ज़रूरी है। रुचि का तत्व वस्तुतः कविता को सम्प्रेषणीय बनाता है। किसी की कविता मेरे लिए तब कोई मायने रखेगी जब उसकी बात में मैं भी कहीं शामिल होऊं । यानी कि वह कवि के नितान्त व्यक्तिक मन की निरपेक्ष भड़ास मात्र न हो। भड़ास भी हो पर मात्र वही नहीं हो। हम जानते हैं कि भड़ास में भी कभी–कभी बड़ा ज़बर्दस्त सत्य कहा जाता है। अतियथार्थवादी या बीटनिक कवियों में अपने समय के विद्रूप का जैसा चित्रण मिलता है या अपने समय के प्रति अतिसंवेदनशील प्रतिक्रिया की जैसी झलक मिलती है वह दुर्लभ है। ऊल–जलूल नाटक में पूंजीवादी असंगतता के सत्य का जैसा बेरहम चित्रण है वैसा तमाम सशंक आलोचनात्मकता के बावजूद प्रगतिवादी साहित्य में नहीं मिलता (और ऊलजलूल नाटक को प्रगतिवादी आलोचना ने ' पूंजीवाद के प्रलाप' से ज़्यादा कुछ नहीं समझा) जो भी हो भड़ास जब तक सत्य को सत्य की ज़बान में सम्प्रेषित करती है तब तक रचनात्मक होती है, वह सत्य नितान्त पर–निरपेक्ष ही क्यों न लगे। मन की गहराई से निकली हुई भड़ास में इतनी गहराई ज़रूर होती है कि उसका सत्य दूसरे के लिए रुचि की रक्षा करता है। अर्थात् दूसरा उसमें किसी न किसी स्तर पर शामिल होता है। इसलिए वह सर्वथा और हमेशा पर––निरपेक्ष ही हो, यह ज़रूरी नहीं। फिर यह भी है कि अभिव्यक्ति को सत्य की ज़बान दी गई हो। ऐसी ज़बान की विशेषता है कि उसकी बनी बनाई, तैयार या गढ़ी जबान से (यानी शब्दावली मुहावरे और इन दोनों के प्रयोग से) कभी नहीं बनती। वह इस का मुँह नोच कोंच डालती है। ऐसे मरहले पर वह जीवनमय हो उठती है। उसमें ऊर्जा होती है और वह सर्जनात्मक होती है। निष्कर्ष यह कि व्यक्तिक अनुभव की नितान्त व्यक्तिक अभिव्यक्ति में निर्व्यक्तिक सामान्यता की अपेक्षा ज़्यादा सम्भावना होती है। शमशेर और कैलाश वाजपेयी की कविता इस संदर्भ में देखी जा सकती हैं।

कवि राजकुमार की जो कविताएं ('इक्कीसवी शताब्दी के नाम' में संग्रहीत) कवि के व्यक्तिक बीते अनबीते की बात करती हैं, वे निस्सन्देह उनकी अच्छी कविताएं हैं। चूंकि कवि बहुत देर से कविता लिख रहे हैं, इसलिए उनकी अनुभूति में एक बड़ा हिस्सा खुद कविता रचना का है। कविता को ये किस रूप में लेते हैं, इसे उन्होंने कब क्या दिया, इससे क्या पाया, इसे उन्होंने कैसे मुक्त किया, इसने उनको क्या मुक्ति दी, यह कवि का कविता से एक बड़ा सरोकार होता है। पुस्तक के प्रथम पृष्ट पर उन्होंने अपनी एक कविता ' हवा मात्र शब्द

बुनती है ' की ये पंक्तियां उद्धृत की है। उन्हें कवि का मन्तव्य भी माना जा सकता है –

कविता स्वयं पंखुडियों के लिए
नये नये रंग चुनती है
कविता स्वयं तोड़ती है सन्नाटा
हवा मात्र शब्द बुनती है।

यानि कि कवि मानते हैं कि कविता को होना होता है तो स्वयं हो जाती है – कवि से भी निरपेक्ष, और हम कवि के इस मत से असहमत नहीं हो सकते। वह यों भी कहता है कि –

(कैशौर्य को उड़ा ले जाने वाली) चीलों की ज़द में आकर
कट कटाकर कवि स्तब्ध है, अनेक कटघरों में
पुराने मुहावरे तोड़ता है, शब्दों में नये अर्थ जोड़ता है . . . .

स्वयं कवि राजकुमार ऐसा कर पाए हैं कि नहीं, यह बहस का विषय नहीं। वे ऐसा मानते हैं यह कविता की सदा नई मुद्रा से उनके लगातार भिड़े रहने की इच्छा का सबूत है। यह मुठभेड़ किसी को लगातार बेचैनी दे सकती है तो किसी को सृजनशीलता की पीड़ा । छायावादी कवियों के लिए पीड़ा साधन भी थी और साध्य, क्योंकि पीड़ा का स्रोत रहस्यमय था। नई कविता में पीड़ा अनुभव की चक्की में पिसने का परिणाम थी और अनुभव की विविधता और नयापन नए कवि को बहुत आकृष्ट करते थे । बाद में पीड़ा को और कई प्रसंगों में कई अर्थ मिलते गए तथा इसकी केन्द्रिक महत्ता ख़त्म हुई । कारण यह कि न कोई रहस्य रहा न नएपन के प्रति रोमांचक आकर्षण। कवि राजकुमार को पीड़ा की आत्मीयता के खो जाने का दुख भी है और इसलिए पश्चाताप भी –

कैसे हो जाऊं
आभारी तुम्हारा
क्योंकि मैं ने हमेशा
तुमसे सम्बन्ध तोड़ना चाहा

ऐसे अवसर पर कवि रहस्य की भाषा भी बोलता है और मन के सत्य को

निर्व्याज अभिव्यक्ति देता है –

मैं तेरी पीड़ा प्रतिश्रुत
अव्यक्त सी . . . .
अब तो आओ
अन्धेरे में आलिप्त . . . . .

हमें इस तरह की कविता में रहस्यवादियों की अनुगूंग सुनाई दे सकती है पर इस काव्य संग्रह की युगबोध सम्पन्न कविताओं के प्रसंग में रम कर देखें तो यह पीड़ा खुद से जूझने के अमल में कभी–कभी आ जाने वाली हताशा का पर्याय भी समझी जा सकती है, केवल रहस्यवाद की अनुगूंज नहीं।

यहीं पर संकलन के मूल मुद्दे पर आया जा सकता है। इक्कीसवीं शताब्दी के नाम कवि की अभिवृत्ति क्या है, उसके प्रति कवि का सन्देश या समर्पण भाव या प्रश्न या दृष्टिकोण क्या है ? वास्तव में कविताओं से ऐसे प्रश्नों के उत्तर की उम्मीद सिर्फ इसलिए करना कि संकलन का नाम ऐसी प्रेरणा देता है, सही नहीं होगा। कवि वस्तुतः अपने समय से इतना पीड़ित है कि उससे बाहर या आगे जाने का कोई उपक्रम करके कोई झूठ नहीं जीता। न वह किसी स्वप्न का निर्माण करता है न प्रगति के लिए किसी अचूक मन्त्र का उच्चार । वह बीसवीं सदी के आदमी को सड़े फल की तरह झड़ते देखता है, मृत्यु गंध का गुब्बार घुमड़ते पाता है बच्चों को टेबुलों के तले छिपकर बारूदी धमाके सुनते देखता है और उसका व्यंग्य इस अशोभन विरोध को उघाड़ देता है –

तिस पर तुर्रा है
सभ्यता का स्तुपनिक
इक्कीसवीं शताब्दी की ओर
घर्रा घर्रा कर बढ़ रहा है . . . .

ध्यान दीजिए कवि की असहमति इस बात से है कि सभ्यता को तमाम असभ्यताओं के बावजूद बढ़ता हुआ समझा जा रहा है। यानी कि समय के प्राकृतिक संक्रमण को हमारी (छद्‌म) चतुरता सभ्यता का विकास बता रही है। छद्‌म इस युग का ओढ़ना बिछौना है और इसे कवि ने जगह जगह पर नंगा किया है। हमारी इस सदी के अर्जुन छद्‌मवेषी हैं और शिखंड़ियों की आड लेते हैं,

वृहन्नला बन कर योद्धा बनते हैं (वृहन्नला संस्कृति), युद्धतन्त्र को अलक्षित रखते हैं, अनागत के इन्तज़ार में निठल्ले बैठे रहते हैं (बैठे ठाले का पश्चाताप) . . .कवि को इस युग में सबसे बड़ा अन्तर्विरोध यह लगता है कि असामान्यता, असंगता, अन्याय, दम्भ आदि से घायल होने का रोना तो हर कहीं सुनाई देता है पर उससे उलझ कर जीवन को समतल बनाने का जब समय आता है तो लोग अशक्त हो जाते हैं और बौद्धिक विलास की शरण लेते हैं। यह हमारे तथाकथित बुद्धिजीवी आक्रोश पर सबसे करारा व्यंग्य है।

जैसा ऊपर कहा गया है कवि जहां नितान्त निजी अनुभव अपनी सी निर्व्याज भाषा में बोलता है, कविता में ऐसा सामर्थ्य आ जाता है जो उसे सदा बहार बनाता है। कवि राजकुमार ने प्रस्तुत कविता संग्रह की कविताओं को पांच खण्ड़ों में बांटा है – इसे शायद शीर्षक देने की (नई–कविता कालीन प्रवृत्ति) के विस्तार के रूप में बेहतर समझा जा सकता है। नई कविता कालीन शीर्षकों का अध्ययन किया जाए तो हम पाएंगे कि कई कविताओं में कविता की थीम के स्पष्टीकरण की अपेक्षा थीम की विचित्रता या मन्तव्य–प्रतीक का संकेत माजूद रहता था। 'अज्ञेय' (राजपाल) की कविताएं संकलित करते हुए विद्यानिवास मिश्र ने वर्गीकरण करके जो शीर्षक दिए हैं वे उदाहरण स्वरूप लिए जा सकते हैं। इससे पूर्व की प्रगतिवादी कविताओं के शीर्षकों में विषय के स्पष्टीकरण का प्राधान्य होता था। चूंकि प्रगतिवादी अभिवृत्ति अभी तक बनी हुई है इसलिए थीम की अपेक्षा विषय ही शीर्षक पर छाया हुआ है। जैसे मोचीराम, लोहे का स्वाद, हिन्दु पुलिस, कैंसर, दयावती का कुनबा, स्त्री की उमर, मास्टर, प्रेम का बयान। पर इधर शीर्षकों के प्रति बहुत मोह नहीं रहा हे न उनमे कोई योजना लगती है। अस्तु।

प्रस्तुत कवि में वर्गीकरण के प्रति झुकाव है पर हर शीर्षक पूरे वर्ग को नहीं समोता । जैसे खण्ड–3 का शीर्षक ' विकलांग समर्पण ' है जबकि खण्ड की अधिकांश कविताएं साष्टांग समर्पण वाली प्रणय निवेदन की कविताएं हैं। 'इक्कीसवी शताब्दी के नाम' वाले खण्ड से ज्यादा ' शब्द काफी नहीं हैं ' में अपने समय को उघाड़ कर रख देने वाली कविताएं हैं। पर खण्ड–1 की ' शहर किनारे गांव ' वाली कविताएं निस्संदेह सरल मन की सरल सच्ची अनुभूतियों की कविताएं है। और शहर की वीरानी, प्लास्टिकी परिवेश तथा चार–दीवारी में घुटते आदमी के मुकाबले में गाँव की जैसी सोंधी महक में जीते जागते जीवन का सौन्दर्य चित्रण नज़र आता है और संवेदना को ताज़ा कर देता है। संग्रह की ये सुन्दरतम कविताएं

गरज कर / उमड़ कर
बरसाती नदी सी / व्यथा को
अन्तस्तल में सो गई
फिर कभी कसम की फूटेंगी।
कोंपलें नई
धरती कोई
उर्वरा हो गई ।

इन कविताओं में जीने की ललक है –

मन ने कहा / घुटनों को करो सीधा / कुछ न कुछ अवश्य होगा
खोलो / नाव के पाल / हवा में फहर जाने दो

कवि को बच्चा याद आता है तो मूल्यों के प्रति आस्था फिर बन आती है –

छल्ला पास है / बच्चा याद आता है / घिरते हैं जब जब लोभ
के तूफान / डोलते ईमान को स्थिर कर जाता है ।

इसी सदी की नाहमवारियों की पीड़ा भोगते हुए कवि ज़िन्दगी के मूल सौन्दर्य और भौतिक सुख को नकारता नहीं लगता और इसलिए उसकी कविता में शुष्क आक्रोश की वह भाषा नहीं जो इस शती के सातवें दशक में तथाकथित अकविता ' में आ गई थी और जिसके विस्तार रूप में समकालीन प्रगतिवादी कविता की भाषा में खुरदरापन बना रह सका है। नपी–तुली भाषा में संयमित भावनाओं की ही अभिव्यक्ति हो सकती है। साधारणतया असन्तुलित आवेगों और उद्वेलनों से भरी ज़िन्दगी की भाषा का पारम्परिक और अनुशासित शब्द की सीमाएं लांघना स्वाभाविक होता है। 'विकलांग समर्पण' वाले खण्ड की कविताओं में कवि जीवन को पूरे आश्वासन के साथ जीता है – 'सहवास ' के क्षण यहां शारीरिक सुख के प्रति कोई वितृष्णा नहीं पैदा करते, जैसा कि इस सदी के मशीनीकरण ने किया और जिसे ' अकविता ' ने पूरा इस्तेमाल किया बल्कि आवश्यकता से अधिक दोहराया भी। पर राजकुमार के मन में कोई वितृष्णा नहीं और इसलिए

भाषा में कडवाहट नहीं :–

प्राणों में जब जब ज्वार आता है
तब तब
महकता है आंगन का गुलाब
सारे सहवास को तरल कर जाता है।

या

सहलाये हैं
रूखे सूखे उलझे बाल . . . .
बहुत झेली है हठधर्मी / चुभते हैं अंकुश मुझे

यहाँ कोई पारो सालू में लिपटी दहलीज पर इंतज़ार करती है और देवदास की महक

तुलसीदल की सी . .. /आंगन में पसरी ... मन को भावुक कर
गई . . .

प्रिया का 'मोह' कवि के मन को बीजमन्त्र की तरह गुंजाता है जब रक्त में उष्णता होती है और दमनियों में दबा विरह अंकुर सा फूटता है। आज के परिवेश में मिलन वैसा उत्तेजक नहीं होता न ही विरह ज़िंदगी की कोई बड़ी ट्रेजेडी क्योंकि न मिलन और विरह ज़िन्दगी की एक मात्र व्यस्तता है और न श्रृंगार साहित्यिक रसों का राजा है। प्रेम की आधुनिक स्थितियाँ पुरानी स्थितियों के मुकाबले में अटपटी और हास्यास्पद तक हो सकती हैं। कवि राजकुमार ऐसी स्थितियों के प्रति सचेत है, यद्यपि इनमें छिपे विद्रूप को वांछित शिद्दत के साथ उभार नहीं पाते। आज जयचन्द, बेटी संयोगिता के विवाह में रोड़े नहीं अटकाता, अपनायक (खलनायक नहीं) पिरथी चन्द को खुद अपनी झंझटों से मुक्ति नहीं। उसे अपने विरोधों और उलझनों से फुर्सत नहीं। यह आधुनिकता की त्रासदी है कि जो सरल था, वह उलझ के रह गया है और जो कठिनाई में घिरा था, वह पता नहीं कैसे, इतना आसान होके रह गया है कि सब अटपटा लगता है।

यह सदी नाहमवार है और अगली भी ऐसी ही होगी, ऐसा लगता है। ऐसे वक्त की अटपटी स्थितियों में कवि राजकुमार को सरलता की गलियां मिल जाती हैं, जिनमें भगदड़ के समय, जाया जा सकता है और प्राण बचाए जा सकते हैं। क्या यह ईर्ष्या के योग्य है ?

•

काली झड़ी में बुझे दिए का यथार्थ *

" स्याह बारिशों की झड़ी में " में संकलित एक मार्मिक गज़ल का एक शेर है :

> बुझे दिए हैं हाथों के, मर गए कबूतर बातों के
> धारासार स्याह बारिश में, गोसाईं रे, कहाँ चला ?

कवि ने इस शेर की दूसरी पंक्ति से अपने सातवें काव्य–ग्रंथ का शीर्षक ले कर जैसे अपने मन्तव्य और अपनी रचना दिशा दोनों की पहचान कराई है। समय की आक्रामक मुद्रा के सामने कवि पस्त नहीं पर प्रश्नों से घिरा ज़रूर है, और ये प्रश्न रूपकों की झड़ी लगा देते हैं। रूपकों के पीछे केन्द्रीय बिम्ब है गोसाई का । गोसाईं शब्द के भारतीय भाषिक–सांस्कृतिक संदर्भो में भिन्न–भिन्न अर्थ हैं। कश्मीरी संस्कृति तथा परम्परा में गोसाई एक निर्लिप्त साधक है, पर बेचैन, खोजी और सचेत रचनाकार भी है। कश्मीरी लोकवार्ता में उसका व्यक्तित्व स्पष्ट रेखांकन के साथ उभरता है। कवि, कथाकार, दास्तानगों उसे अनायास अपने (स्वयं के) बेचैन रचना–धर्मा मानस का पर्याय मान कर चलते हैं। कवि 'राही' विशिष्ट कश्मीरी इतिहास और परम्परा से अपने लिए जीवन–ऊर्जा लेता है पर वह समकालीन सार्थकता और निरर्थकता दोनों से दो–चार होने की स्वीकृति भी करता है। उसके

---

* आधार : रहमान राही की (कश्मीरी) कविताएं

कवि व्यक्तित्व के विकास का ग्राफ़ देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वह इतिहास और सामयिकता, दोनों की युगपत उपस्थिति का साक्षी है। इस तथ्य का सब से अधिक प्रामाणिक दस्तावेज़ है उसका कविता संकलन ' स्याह बारिशों की झड़ी में । 1997 में प्रकाशित यह काव्य संग्रह एक सक्षम कवि की तीक्ष्ण तथा प्रभावी अभिव्यक्ति की तरह बरसों तक चर्चा का विषय बना। न केवल चर्चा का बल्कि प्रेरणा तथा दिशा–दशा–दर्शन का एक मार्गस्तम्भ भी बना हुआ है यह ग्रन्थ। इस ग्रन्थ के आधार पर कवि राही को 2006 का ज्ञानपीठ सम्मान भी दिया गया है।

ऐसा कई अद्‌भुत सत्यों के बावजूद हो रहा है। सब से अद्‌भुत और महत्वपूर्ण यह है कि इस ग्रन्थ में कवि की 1956–58 से लेकर प्रकाशन वर्ष तक की कविताओं में से चुनी हुई कविताएँ संकलित हैं। इन में से तक़रीबन सारी समय–समय पर प्रकाशित हुईं और कश्मीरी कविता में नए तथा बदले हुए लहजे का पता देती रही हैं, विगत चार दशकों में । फिर भी जब संकलित होकर एक साथ प्रस्तुत हुई है, तो इन पर विचार और पुनर्विचार हो रहा है। यह भी अजीब है कि इस ग्रन्थ में यद्यपि राही की नज़्में, ग़ज़लें औ चतुष्पदियाँ हैं और इन सब विधाओं में राही की अलग पहचान स्थापित हो गई है, फिर भी सम्पूर्ण संकलन का प्रतिनिधि स्वर नज़्म अथवा मुक्त छन्द अथवा छंदमुक्त कविता का है, और राही इस प्रकाशन के बाद कश्मीरी नज़्म के कवि के ही रूप में उभरते हैं। कारण शायद यह है कि समकालीन भावबोध के सर्वाधिक समर्थ वाहन के रूप में छन्द का बंघ कविता के लिए अनावश्यक उपकरण हो कर रह जाता है। बल्कि इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि कश्मीरी में (उर्दू की ही तरह, उर्दू के प्रभावानुरूप) छन्द–मुक्तता सत्तर के दशक में तक़रीबन अप्राकृतिक विकास की तरह ज़ाहिर हुई। ग़ज़ल की जकड़ से कविता को मुक्त करना सचमुच समकालीन भाव– बोध–सम्पन्न विचारशील कवियों के लिए जुर्रत का काम था। कश्मीरी कविता के क्षेत्र में यह ' राही ' ने ही किया । यह बताने के लिए कि ग़ज़ल ही सही मगर ग़ज़लत्व की मानसिकता से मुक्त ग़ज़ल ही समकाल का अनिश्चय तथा प्रतिसौन्दर्यवाद बयान कर सकती है, 'राही' ने –न्यूल ग़ज़ल ' (कच्ची ग़ज़ल) लिखी जो संरचना में ही नहीं, वस्तु–बोध में भी ग़ज़ल से कोसों दूर है।·अस्तु ।

' राही' स्वयं प्राक्कथन में कहते हैं कि प्रस्तुत संग्रह की कोई नज़्म 'शुद्ध गद्यात्मक' नहीं है, यद्यपि पारम्परिक छंदशास्त्र से हट कर रचनाएँ इस में हैं। बेशक तथाकथित गद्य कविता कोई नहीं है पर गद्य की लय सर्वत्र मौजूद है, जो इन कविताओं को परम्परावादी आलोचकों–पाठकों के लिए सुगम ग्राह्य तथा स्वीकार्य

नहीं भी बनाती है। तथापि राही की शुद्ध कवि दृष्टि तथा तीक्ष्ण यथार्थभेदी नज़र को सब मानते हैं।

यहाँ विषय की दृष्टि से कई प्रकार की कविताएँ हैं । 'माफ़ीनामा' जैसी तेज़तर्रार व्यंग्य की कविताएँ भी हैं, ' आग की लपट तथा नृत्य' जैसी यथार्थ के भीतरी विरोधाभास को उभारने वाली कविताएँ भी हैं, ' हंद–फूल का फानूस' जैसी प्रतीकात्मक कविताएँ भी हैं, तथा 'ज़बरवन के पर्व श्रृंग रे! ' जैसी निजी संदर्भों का आईना पेश करती कविताएँ भी हैं । कविताओं के साथ–साथ रचनाकाल दिया हुआ है, जिस से कवि की रचना यात्रा और चिन्तन के विकाकसक्रम का अनुमान किया जा सकता है। पर यह संकलन तरह–तरह की इकाइयों का संग्रह होने के बदले, कवि के बारे में एक समेकित मूल्यांकन–दृष्टि पैदा करने में सफल होता है जो वस्तुतः राही के कवि–व्यक्तित्व के बारे में पाठक–आलोचक के लिए ज़रूरी है।

राही के सम्पूर्ण तथा समेकित व्यक्तित्व का जो रूप उनकी इन प्रतिनिधि कविताओं में उभरता है, वह है एक ज़बर्दस्त संवेदनशील रचनाकार का, जो न केवल अनुभूति की मामूली फेरबदली में भी अर्थ तथा आशय की सम्भव–असम्भव तब्दीलियाँ देखता है, बल्कि शब्द के ज़रा से मात्रा फेर में अभिव्यक्ति की पूर्णता की सम्भवना देखता है। उदाहरणतः उनकी नवें दशक की बहुचर्चित परन्तु कम व्याख्यायित कविता ' ज़बरवन के पर्वत श्रृग रे ! ' लें। श्रीनगर में डलझील के किनारे खड़ा ऊँचा वनहीन ' ज़बरवन ' का पहाड़ यहाँ की धार्मिक सांस्कृतिक लौकिक ऊहापोह का शतियों से साक्षी रहा है। वह श्रीनगर का उदयाचल है और कवि की सनातन रचनाशीलता का सब से ज़्यादा सहानुभूतिपूर्ण भागीदार । उससे जब कवि अपनी यह भावना सांझी करता है :

तू मेरा आदि सहज़ात
मैं–अन्तःस्थल में तेरा ही स्नेह
उम्रों तेरे लिए प्रतीक्षा मैं ने की
मेरी व्याकुल धुक् धुक् तू ने सुनी कभी
हाँ, मैं ने कई बार तेरी भारी ' हुम–हुम' सुनी, पर
अब जो तुझे कभी इतना अवकाश दिया जाएगा तो
(मेरी पगडंडी कहीं कभी क्या ढूँढ पाओगे ?)

मैं बस तेरा इन्तज़ार ही इन्तज़ार करूँगा ......

तो इतिहास का अचल द्रष्टा और सीमित अवधि का भोक्ता, दोनों एक हो जाते है। पर्वत और मनुष्य का यह सम्बन्ध प्रकृतिवादी या सौन्दर्य–खोजी कवियों का रागात्मगक सम्बन्ध नहीं। इस में राग के बदले विराग, उदासीनता और राज़मर्रा के दंश की पीड़ा बोल रही है। यहाँ रोज़मर्रा का दंश सनातनता के मरहम की कामना भर कर सकता है, उस में अपने आप को खो नहीं देता।

सहानुभूति के साथ मानव नियति के विरोधाभास को जीने वाले कवि के लिए अस्तित्व भले ही दंश के रूप में हो, पर अस्तित्ववादियों के अतिवाद से वह बचने को भी प्रयत्नशील रहता है। ' हम्द' (धन्यवाद, प्रभु) में मरुस्थल की निर्जल तृणहीन रेत में लुढ़क–घिसट कर सरकते हुए गिरगिट का रूपक कवि की अभिवृत्ति सम्यक दर्शाता है : गिरगिट को होना अनहोना परखना पड़ा / उस ने अपना दिशा–देश नज़रों में भर लिया / अपने मुख पर उभरे पसीने की नमी का अनुमान लगाया / अपनी जीभ का प्यासा काँटा थोड़ा भिगोया / और अपनी दाढ़ों से खुद अपनी केंचुल खींच उतारी / आहार किया . . . / धन्य हो, इस अनस्तित्व में भी अस्तित्व कहीं मौजूद है / किसी को कमी कोई नहीं खलत/

क्षुधातृप्ति के लिए अपनी ही केंचुल को आहार बना कर खाने वाले जन्तु का रूपक लेकर कवि ने जो कहना चाहा है उसमें आलोचकों को अस्तित्ववादी दर्शन की गूँज सुनाई दी। 'राही' इस दर्शन से प्रभावित ज़रूर थे पर जीवन को किसी भी प्रकार के मतवाद के कठघरे में बाँधना उनका आशय कभी नहीं रहा। अपने नित संक्रमणशील चिन्तन के कारण वे मार्क्सवादी दर्शन से अलग पंथ धारण कर गए, शुद्ध धार्मिक प्रेरणाओं के अतिवादी वातावरण में (विशेष कर गत दशक़ में) अपनी स्वतन्त्र सोच को बचा सके, तथा औरों के लिए प्रेरणा भी बन सके। यह सोच अपने भुक्तभोगी अनुभव की प्रामाणिकता को ही प्रश्रय देती है। अपने अनुभव की विलक्षणता से बढ़ कर राही के पास और कोई मापदंड नहीं है जिस से ज़िन्दगी के बारे में कुछ कह सकें। इस संदर्भ में उन की कविता 'अवसाद' ('हमसूस') ली जा सकती है। यह कविता कवि के रचनाशील मानस के भीतर संघर्षमय विकास का परिचय देती है। मन संघर्ष के तमाम आयामों से गुज़रने के बाद गीता के 'निष्काम अन्त' की क़िस्म की परिणति से ज़रा भी विचलित नहीं होता, और अपने ऐतिहासिक दाय के सामने खुद को हास्यास्पद स्थिति में पाने के बावजूद लोकगीत की जैसी एक पंक्ति गुनगुना कर रह जाता है। वह न स्थिति

के उद्धार के लिए कोई वाचाल स्वर उचारता है, न स्थिति में ही समो जाने के लिए आत्महत्या की मुद्रा इख़्तियार करता है। कवि इस कविता में कश्मीरी–उर्दू–फारसी की सारी प्राप्त और अप्राप्त काव्य–परम्पराओं की रोशनी में आईना गढ़ने की प्रक्रिया को देखता और बयान करता है। फ़ौलाद को अनुभव–सिद्ध मानव तथा मशीनी प्रक्रियाओं से गुज़ार कर मनुष्य के लिए आईना बनाया गया (मध्य एशिया में फ़ौलाद के पट को घिस–घिस कर आईना बनाने की परम्परा थी), परन्तु –

मेरा आदि (आदि नियति का बादाम का फूल) खिला
मैं ने (अपने लिए) सुख और सन्तोष की मुद्रा का वरण किया
अब (यह सोचा कि) अपने हाथों अपनी बेपता जन्म–जाति का
मोल कर लूँ
पर हाय यह माथजला नसीबा (मेरा) –
मेरी धुँधआती उसाँस उस को लगी
कि उस (फ़ौलाद के आईना का) अंदरूनी ज़ंग उभर आया।
(अब)उधर वह अपनी ठंडी ख़ाली गोदी के लिए (मेरे सामने)
(और इधर) मेरी आँखें अस्त–ज्योति वाले (दो) खड्ड
हाय रे सिकंदर ! हाय खिज्र रे !
आओ गाओ रे ! शौक़, हाय (कितना था!) दीदार का

सिकन्दर, जो विश्वविजयी था; खिज्र, जिसे अमरत्व प्राप्त था – संघर्ष तथा प्रयास के इस विफलत्व के सामने हास्यास्पद हो जाते हैं और कवि आख़िर शौके दीदार ' का रोना रो कर रह जाता है। नितान्त वैयक्तिक अनुभूति को सर्वस्थिति–उपयुक्त बनाने के लिए कवि अपनी कविताओं में बार–बार समय का उल्लंघन करता है और एक साथ भूत भविष्यत वर्तमान में उपस्थित दिखता है।

'*स्याह बारिशों की झड़ी में* कवि ' राही ' का एक कविता–संकलन मात्र नहीं है जिस में उन की छिटपुट कविताएँ संकलित हों यह पिछले चार दशकों में इस अप्रतिम कवि व्यक्तित्व के विकास का एक ग्राफ भी पेश करता है, यद्यपि, जैसा कि ऊपर बताया गया है, कवि का व्यक्तित्व इस लम्बी कालावधि में समेकित स्वरूप धारण किए हुए है। देखा जाए तो प्रगतिशीलता से छूट कर राही एक ही लय में रागानुराग प्रकट करते रहे हैं। इस दौरान उन में आरोह–अवरोह (या सरल भाषा में कहें, मोड़) आए हैं पर उन की दिशा स्पष्ट और परिभाषित रही है। प्रगतिवाद ने उन्हें सामाजिक दृष्टि दी। यद्यपि बाद में वे आत्मनिष्ठ होते गए पर सामाजिक अनर्गलता से वे समय–समय पर चौंकते रहे। छठे दशक में जब कश्मीर

की राजनीति में चापलूसी का काफ़ी बोलबाला था, तो राही की कविता माफ़ीनामा ' ने जन्म लिया, जो उन के व्यंग्यकार व्यक्तित्व का सम्यक रूप प्रस्तुत करती है :

> तुम ने जब चाहा तो चार घोड़ों को न्यायाधीश बना डाला / जिस ने बखानी योग्यता अपनी, उस के दाँत तोड़ डाले / यह तेरा ही है हुक्म कि पुलिस के अफ़सर चरस ढोएँ / करते रहे मौलवी जुआख़ानों का उद्घाटन ... / मैं किस गिनती में था कि खुद को योग्य लोगों में गिन लूँ ... / तुम कहो तो खिड़कियाँ कील ठोक के मुद्रित कर लूँगा / बसंती हवा को बोलूँ री तू कलंकित है / तू आज्ञा दे तो ' गुलरेज़ ' (महाकाव्य) जला देंगे हम / गुलेलाला (फूल) से कहेंगे ' महजूर' (कवि) बावरा था / (कवि) 'आज़ाद' व्यर्थ कुढ़ता था / अमीरी ग़ीरीबी तो आख़िर ख़ुदा की रची हुई है / . . . / मुझे से कोई मूर्खता हुई हो तो / अपना प्रशंसक जान के मेरी ख़ता माफ़ करना ....

यह लम्बी कविता जिस सामाजिक असमता और कुप्रबन्ध को संकेतित करती है, उस का अधिक मुखर रूप राही की ग़ज़लों में उभरता है । यह निर्विवाद है कि नज़्मों में जहाँ वे खुल कर व्यक्ति–मानस की गहराइयों में पैठते हैं, ग़ज़लों में वे बहिर्मुख होने की ज़्यादा छूट पाते हैं। इन की निश्छल अभिव्यक्ति भी ज़्यादा सीधी और निर्बाध ग़ज़लों में ही हो पाती है। कुछ शेर अनुवाद में :

> वो भी चमत्कार हुआ था कि दिल में तेरे ग़म की नमी बहुत दिनों रही
> नहीं तो हँस हँस कर फूल (झडते हैं और) काँटा भर होके रह जाते हैं।
>
> मेरे ख़्वाब रूठ के गए थे, दिल की पहचान ही भूल गया था मैं
> आज तू आया, सच मानो मैं ने आज ही अपना आपा पहचान लिया।
>
> शहर की पगली सड़क पहाड़ और जंगल चली गई
> इस तरह मेरी आस्था के दामन में सन्देह और पैठ गया ।
>
> बाज़ार के बीच से चुप्पी का रेगिस्तान गुज़र गया ।
> किस की (करनी) थी और किस पर बीत गई ।
>
> बंधु और बांधव जिस के यार हैं।
> कभी–कमी शहर में उसे ' आदमी ' कहते हैं।

आज तूफ़ान बेमंज़िल भटकते हैं
कल ये सब घरों में रहते थे।

अजदहे के मुँह से मणि छीन
रात के लिए सूरत तो गढ़ ।

समय की अस्थिरता और स्थायित्व के बदले संक्रमणशीलता का आभास कवि को सातवें—आठवें दशक में जगत की अगम्यता का आभास करता है : (सुबह) इस चोटी पर उगी / उस चोटी पर डूबी / गाँव को अपना नाम याद नहीं रहा / शहर, जनाज़ा बीच में छोड़ के ही चला गया . . . .

अस्तित्व एक ही स्थिति न हो कर विभिन्न क्षणभंगुर स्थितियों का एक तर्कविरुद्ध पुंज है, यह मानने वाला कवि निरन्तर प्रश्नाकुलता से ग्रस्त दिखता है क्योंकि अब उस की मानसिक परिपक्वता के सामने कोई सीधा सरल हल नहीं टिकता । भारतीय भाषाओं के अन्य कवियों से तुलना करते हुए हम देखते हैं कि आधुनिक बोध वाला ' राही ' अनुभवों की संकुलता को मुहावरे की संकुलता से बचाने की कोशिश में हैं, जिस से कि उस का सम्प्रेषण आसान और सफल हो । देखिए – ('खिराज' – (उपहार / भेंट) ' कविता से

छाया की जलवल्लरी
खुली धूप में तपा पत्ता मैं ने तोड़ा, पर
कहीं नज़र न आई वो ख़ुशबू
उसने मुझ से कहा –
कान खोल के सुनोगे तो
समंदर के ऊपर तैरती सोनमछलियों का पहनावा पाओगे।

इस बिम्ब के भीतर कई अंतर्वर्ती बिम्बों की अन्तर्भुक्ति से हम अछूते नहीं रह सकते । यहाँ इच्छा और पूर्ति, प्रयास और परिणति के आपसी तर्कहीन रिश्तों को कवि अपनी असमंजस मनःस्थिति के परिप्रेक्ष्य में उभारता है तो कविता बयान भर या बिम्बचित्रण या तमाशा भर बनने से उबरती है। इसी प्रकार इस कविता की इन पंक्तियों में केवल बिम्ब समझ कर बात की गहराई में नहीं उतरा जा सकता, इसे सम्पूर्ण आशय के प्रकाश में देखना होगा :

अंधे रास्ते में कहीं गई निर्व्याज बात
पत्थर तोड़ के तलवार उगा देती है

यों शेर के मायने तथा पहाड़ी नद का दुर्बोध केन्द्र, (दोनों)
व्यापक हो कर फैलते जाते हैं
पाँच दरियाओं का पानी आख़िर पानी ही तो है
लहर लहर से मिलती है और दोनों
भँवर में जकड़ जाते हैं . . .

पूरी कविता सृजन के क्लेशों की व्याख्या करती है। यह मन की रचनात्मक गुह्यता को प्रकट भाषा में ढालने की प्रक्रिया का एक बहुत ही परिपक्व और ईमानदार प्रयास है। कविता केवल प्रयोग की अपूर्वता की वजह से महत्वपूर्ण नहीं बन जाती बल्कि कवि व्यक्तित्व की अपूर्व (परन्तु दुर्लभ नहीं) अनुभूति को शब्द (कहीं–कहीं नया गढ़ा शब्द) देने के उपक्रम के कारण महत्वपूर्ण बनाती है। राही की कई कविताएँ इस वर्ग में आती हैं, यद्यपि स्पष्ट वर्गीकरण करके उन को समझना उन के साथ अन्याय करना है। भाषा और शब्द यहाँ विस्फोट की स्थिति में होते हैं और सीमित शब्दावली के घेरे को तोड़ देते हैं। समकालीन जीवन की उलझनों, ख़ास तौर पर वैचारिक संकुलताओं के लिए भाषा की अपर्याप्ति का प्रश्न बीसवी शती के आठवें–नवें दशक में बहुत प्रमुख हो उठा था। ऐसे में समर्थ कवियों ने अपने लिए अपने रास्ते चुने। उन्होंने जितना भाषा से लिया उस से अधिक उसे दिया। ' राही ' इस प्रसंग में बड़े रचनाशील रहे हैं। कविता के अतिरिक्त आलोचना और भाषणकला दोनों में समान प्रवीण हैं। यह संयोग नहीं कि इन दोनों अभिव्यक्ति–क्षेत्रों में भाषा के सतत परिमार्जन की ज़रूरत पड़ती रहती है। प्रतिभाशाली व्यक्तित्वों के लिए यह असम्भव नहीं होता ।

•

आधार भूमि की खोज *

' जब आधार छूट जाएंगे ' (1994) श्री मोतीलाल क्यमू के ग्यारह कश्मीरी नाटकों में जिनमें चार एकांकी और शेष बड़े या पूरी लम्बाई के हैं कालक्रम में नौवां है। श्री क्यमू ने नाट्य लेखन तथा मंचन एक ही साथ शुरू किया और अपने बड़ौदा–प्रवास के दौरान प्रस्तुतीकरण का प्रशिक्षण लेने के दिनों हिन्दी में तीन एकांकी लिखे, जिन्हें ' तीन असंगत एकांकी ' नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित किया। इन नाटकों में तर्कसम्मत यथार्थ और चौखटा रंगमंच (Proscenium Theatre) दोनों की सीमाएं लांघ कर कथ्य और मंचन दोनों की नयी सम्भावनाएं खोजने का पहला प्रयास नज़र आता है और गत सदी की पांचवीं छठी दहाई में तथा कथित उलज़लूल (एब्सर्ड) नाट का प्रभाव झलकता है। इस नई नाट्य शैली ने साफ दिखाया था कि कथास्थिति की पारम्परिक सीमाओं में रहते हुए तेज़ बदलती जीवन स्थितियों और जीवन दृष्टि का आलोचनात्मक चित्रण करने की यही परिपाटी हो सकती है। श्री क्यमू का नाट्य लेखन इसी परिपाटी से आरम्भ हुआ । बडौदा से कश्मीर आकर उनका ध्यान कश्मीर के ' बांड पॉथुर'[1] की अनगढ़ लेकिन समृद्ध परम्परा की ओर गया। उनको लगा कि इस लोक नाट्य में समकालीन विषम यथार्थ की अभिव्यक्ति देने की अद्भुत शक्ति मौजूद है। वे इस से सांगोपांग जुड़ गए । आगे चलकर पहले उन्होंने निजी तौर पर पेशेवर बांडों से घना सम्पर्क कायम किया। कश्मीर में ' बांड पॉथर' को आन्दोलित करने', इसे पुनर्जीवित करके इसकी कलात्मक सम्भावनाओं को उजागर करने तथा सामाजिक

---

* प्रसंग : मोतीलाल क्यमू के कश्मीरी नाटक

1. पॉथुर = नाटक अथवा नाट्य ।

दृष्टि से उपेक्षित बांडों में आत्मविश्वास तथा कला चेतना जगाने में इस अकेले नाटककार का जितना योगदान रहा है उतना व्यक्तिगत रूप में किसी और का और न किसी संस्था का रहा है।

देश के अन्य लोकनाटकों की तरह बांड पॉथर की भी निश्चित कथा–उपकथाएं होती हैं और प्रस्तुतीरण में देशकाल के अनुसार उन्हें बदल! या ढाला जाता है। श्री क्यमू ने इस परिवर्तशीलता का पूरा उपयोग किया है और इस के माध्यम से अपने समय के बारे में महत्वपूर्ण बातें कही हैं। ' पालने का पूत ' और 'त्रिनाम' में आज़ादी के बाद सरल ग्रामीण समाज की रग–रग में उतर रहे भ्रष्टाचार के ज़हर का तीखे व्यंग्य पूर्ण मुहावरे में चित्रण किया । 'अंतःपुर का दर्पण' में समाज और राजनीति पर दुराग्रही दफ्तरशाही की जकड को उघाड़ कर रख दिया गया है। ' तोता और आईना ' में दास्तान के नाट्यीकरण का प्रयोग कथास्थिति को महाकाव्य के–से आयाम प्रदान करता है और जीवन के बारे में कुछ महत्वपूर्ण एवं आधार भूत प्रश्नों को हमारे सामने लाकर खड़ा कर देता है। इन सब नाटकों में मसखरे है, भांड है नटुवे हैं जो गम्भीर से गम्भीर प्रश्नों को उनके बीच पाए जाने वाले अन्तर्विरोधों के साथ ऐसे उभारते हैं कि प्रश्न की गम्भीरता धुल जाती है और हास्य पैदा होता है। साथ ही लोक शैली में पाए जाने वाले अन्य तत्व भी इनमें विद्यमान रहते हैं । सबसे बढ़कर जीवन की निसंगतियों पर कड़ी टीका टिप्पणी होती है।

ऊलजलूल नाटक शैली के प्रयोग के साथ–साथ श्री क्यमू ने ' बांड ' शैली का वस्तुतः कथ्य की आन्तरिक शक्ति को प्रकट करने के लिए इस्तेमाल किया। हमारे जीवन की विसंगतियां इतनी आम हैं और हम इनसे कुछ न कुछ इस तरह दो चार होते हैं कि अब इन्हें असाधारण कहना अपने अज्ञान का परिचय देने के बराबर हो गया है। श्री मोतीलाल क्यमू के दो नाटक ' छाया ' और " मैं लल चली प्यार में "[2] गम्भीर जीवन की विसंगतियों के नाटक हैं। 'छाया' में प्रख्यात कश्मीर नरेश ललितादित्य के प्रभा मण्डल में पाए जाने वाले खोखलेपन को उजागर किया गया है और ' लल' में कश्मीर के सामाजिक जीवन में व्याप्त झूठ और दंभ से पैदा होने वाले तनावों का ज़िक्र है। ये दोनों यों तो सुनियोजित कथानकों वाले नाटक हैं पर इनमें भी कथारूढ़ियों या शैलीगत रूढ़ियों को तोड़कर अपूर्व प्रयोग किए गए हैं। 'छाया' ललितादित्य के व्यक्तित्व की प्रभविष्णुता पर

2. लल अर्थात् ललेश्वरी या ललद्यद। यह शीर्षक लल के एक वाख (पद) की शीर्ष पंक्ति है।

लिखा गया हे पर पूरे नाटक में ललितादित्य अनुपस्थित होता है । '' लल' में जो घटनाक्रम एक परिवार में घटता है, वही दूसरे परिवार में दूसरे प्रसंग में पर उन्हीं सराकारों और चिंताओं का उल्लेख बनता है।

'जब आधार छूट जाएंगे' (संक्षेप में ' आधार') नामक नाटक–संकलन में श्री क्यमू के अपने ढंग के और अलग किस्म के नाटक हैं, यद्यपि इनमें भी मोटे तोर पर 'बांड पॉथर' शैली के उपकरणों का इस्तेमाल किया गया है। इन नाटकों में बात भांडों ही की आत्मीय समस्याओं और उनके निजी सरोकारों के माध्यम से कही गई है। इनमें क्यमू की नाट्यकला अपने समय के प्रति कलात्मक चेतना का आश्वासन देती है।

'आधार' दो बड़े नाटकों ' जब आधार छूट जाऐंगे ' और 'शाह का नाटक' (संक्षेप में 'शाह') का संकलन है। दोनों में भांडों की नितान्त निजी समस्याओं को लिया गया है जो कश्मीर में वर्तमान उग्रवाद के कारण पैदा हुई हैं और जिनके साक्षी हम सब हैं। उग्रवाद से पेशेवर भांड–नटों के प्रदर्शन बन्द हुए और इनमें से बहुतों को रोज़ी रोटी से हाथ धोना पड़ा । साथ ही उनके भीतर का पारम्परिक कलाकार मरने लगा तो उनकी आत्मा रो पड़ी । इन दोनों नाटकों में नटों की टोलियां ' वर्तमान व्यवस्था' से असहमति प्रकट करती हैं क्योंकि इससे ' बांड कला' का ही ह्रास हो जाएगा और सारी उपलब्धि खो जाएगी ।" (' आधार' में से) और ' हंसी–मनोरंजन, गीतों की महफिलें जुटाना और जश्न करना हमारी ज़िन्दगी का अभिन्न अंग है' ('शाह' में से) वास्तविक जीवन में और इस नाटक की कथा के अनुसार भी शमीमा 'गोपाली' का अभिनय करती थी, उसकी हत्या की खबर सुनकर टोली के मुखिया 'मागुन' से रहा नहीं जाता और वह– नगाड़े पर चोट करता है। 'शाह' में नटों की टोलियां अपने प्रतिबन्ध के बाहर समय के प्रति ज़्यादा सचेत है और अपने पेशे पर पड़ी मार मुक्ति चाहते हैं। वे इस बारे में भी सचेत है कि उनका लोकनाटक रसहीन जीवन में हास्य तथा उष्मा का संचार करके कश्मीरी कौम को फिर उसका विचारशील अस्तित्व लौटा दे सकता है। विचारशीलता के लिए अपने आप पर हंसना ज़रूरी है और विचार प्रवंणता से समाज में विद्वानं और बुद्धिजीवी पैदा होते हैं तथा प्रगति की राहें निकलती हैं।

' आधार ' और ' शाह ' दोनों नाटकों के भीतर अर्न्तवर्ती नाटक हैं बाहरी नाटकों में नटों की अपनी समस्याएं हैं जो वर्तमान स्थिति से पैदा हुई है अर्न्तवर्ती नाटकों में उनके परिवेश तथा समाज की समस्याएं हैं और ' आधार ' में मुखिया

' मागुन ' का बेटा शिकार था पर माँ की प्रेरणा से बदल कर पैतृक नाट्य परम्परा की रक्षा करता हुआ ' क्रॉस फायरिंग ' में मारा जाता है। बाद में 'मागुन ' भी सुहाग तथा सन्तान खोकर रोती कलपती इस हत्याकांड के सिलसिले को बन्द करने की पुरज़ोर अपील करती है। इस नाटक के दो अन्तर्वर्ती नाटकों में से एक में ' अकनंदुन ' (एक ही पुत्र) की लोककथा ली गई है, जिसमें एक निस्सन्तान शाही दम्पति को एक साधु द्वारा बारह साल की अवधि के लिए दिए गए बेटे और फिर अवधि बीत जाने पर बेटा वापिस लेने से मां की ममता के आहत होने की कथा है। इस नाटक का केन्द्रीय सन्देश यही है कि युवकों को मौत से बचाने के लिए माँ की ममता ही प्रभावशाली भूमिका अदाकर सकती है। ' अकनंदुन' की लोककथा से पारम्परिक ' बांड पाथर ' श्रृंखला का ' 'ग्वसॉन्य पॉथर' (साधु का नाटक) जोड़ कर श्री क्यमू ने जहां इस नाट्यशैली का बहुत ही समर्थ और साभिप्राय प्रयोग किया है, वहीं कथा के अभिप्रायों (motifs) के विकास की ओर भी संकेत किया है। अकंदुन' वस्तुतः राजरानी की ममता का नाटक है और क्रोधी साधु इसमें केवल शुष्क निरपेक्ष परीक्षक के रूप में उभरता है। पर क्रोधी तथा नीरस कथाचरित्र की अपनी भी न्याय–संगति होती है इसलिए साधु चरित्र को ही दूसरे अर्न्तवर्ती नाटक 'साधु का नाटक' में तीर्थ यात्रा पर जा रहे नवयुवक प्रेमी के रूप में उभारा गया है, जो साधुओं को दूध पहुंचाने वाली ग्वालन 'गोपाली' के प्रणय जाल में फंसके रह जाता है। साधु की भूमिका से 'मागुन' अपनी भी कला सन्तुष्टि की पराकाष्ठा को प्राप्त होता है और उसकी पत्नी बांडन ममता की कसौटी पर खरी उतरती है। इस नाटक में लेखक इन दो चरित्रों की सशक्त चरित्र–रेखाएं उभारकर नाट्यलेखन की नई सम्भावनाओं की तलाश में नज़र आता है। उग्रवाद के परिप्रेक्ष्य में वह पिता के विरोध (contrast) में माँ की कर्मण्यता पर ज़्यादा विश्वास प्रकट करता है –

" मैं अभी ज़िन्दा हूं । हथियार गढ़ने और हथियारों से खेलने का परिणाम है ये दो शव । मेरे सुहाग और मेरी सन्तान के – ये परिणाम हैं, इस ऋषिवाटिका (कश्मीर की घाटी) को बारूदखाना बना देने के ।"

इसके बाद सभी बांड–नट मिलकर सूफी कवि नुंद ऋषि की यह पंक्ति दोहराते हैं कि इस पागल हिंसा का निदान केवल माँ के पास है –

"पिता मर भी जाए तो, हम माँ पर बलिहारी हों।" माँ विश्वास से कहती है – " उठो वे रास्ते छोड़ दो, जिनकी मंज़िल हिंसा जंग और विनाश है "

इस प्रकार यह नाटक सुविचारित यथार्थपरक नाटक तथा मुक्त शैली वाले लोक नाटक या आधुनिक विलगत्व (alienation) वाले नाटक दोनों के गुण रखता है। सुविचारित नाटक में सन्देश, कथावस्तु में इस तरह बुना गया होता है कि उसकी केवल ध्वनि सुनाई पड़ती है। वह मुखर नहीं होता, जबकि विलगत्व बनाए रखा जा सकता है और सन्देश मुखर या वाचाल तक हो सकता है। 'आधार' में बांडन इसीलिए कभी–कभी भाषण की हद तक स्पष्ट और सीधी बात बोलती है। यह नाटक लिखकर लेखक ने बताया कि कश्मीरी युवा की माँ ही उसको कलाचेतना से सरशार करके हिंसा के पथ्श पर जाने से रोक सकती है।

'शाह' में नटों की अपनी समस्या यह है कि उनका पेशा खत्म हुआ जा रहा है और 'आधार' के मागुन की तरह यहां नाटक की कमान स्त्री चरित्र गोपाली के हाथ में है। संयोजन का ज़िम्मेवार ' मागुन' होता है। संयोजक की ज़िन्दगी नाटक टोली की ही ज़िन्दगी बन जाती है पर 'आधार' की मूल संवेदना के केन्द्र में बांडन है। यह सिलसिला एक तरह से 'शाह' में भी मौजूद है जहां 'गोपाली' संयोजक भी है और अन्तर्वर्ती नाटक में मूल संवेदना के केन्द्र में मौजूद भी है।

इस प्रकार एक और स्थान पर अन्तर्वर्ती नाटक में बेगम की भूमिका में गोपाली, राजा ज़ैनुलाबदीन बडशाह को सम्बोधित करके कहती है –

" आप स्वस्थ हो जाइए और वे पुरानी राजाज्ञाएं बदल डालिए । अमन और शान्ति और सस्तेपन के दिन फिर लौट आने चाहिए। मैं ने सारे मुल्क में एलान कराया है " –

गोपाली इस हकीकत को ढक छिपा कर रखने के पक्ष में नही अर्थात् जैनुलाबदीन 'बडशाह' के जीवन चरित्र की उस महत्वपूर्ण घटना पर आधारित नाटक खेलने की जुर्रत बटोरती है, जिसमें कश्मीर छोड़ कर गए अल्पसंख्यकों को बडशाह फिर वापिस बुला कर उनका पुनर्वास कराते हैं। इस प्रकार दोनों नाटकों में वर्तमान समस्या के हल के लिए स्त्री की सकारात्मक भूमिका को महत्व दिया गया है।

'आधार' नाटक समस्या के प्रथम पहलू को उभारता है और 'शाह' दूसरे पर प्रकाश डालता है। दोनों नाटकों को मूल प्रेरणा नुन्दऋषि के 'श्रुक' (श्लोक) से मिली लगती है –

छूटेंगे आधार तो फिर भवन ढहेंगे ।

ढेर लगेंगे तो मनमारे सब बैठेंगे ।।
तन मन का उपचार भला क्या हो सकता–
मरे पिता पर माँ पर सब कुछ हम वारेंगे ।।

'आधार' में 'मागुन जनजीवन को शक्ति और सौन्दर्य प्रदान करने वाला आघार है । 'शाह' में 'आधार' वह टेक या तकिया है, जिसका सहारा लेकर राजा न्याय तथा प्रगति का आयोजन करता है। कश्मीर में उग्रवाद से उस अपूर्व आर्थिक, सामाजिक प्रगतिका सिलसिला टूट गया जो 1947 से वहां हुई थी और जिसकी रूह से कश्मीर की व्यवस्था जागीरदाराना के स्थान पर एक आधुनिक अर्थव्यवस्था में बदल रही थी ।

जिस ओर कभी सूफी सन्त नुन्द ऋषि ने इशारा किया था उसी में हमारी आज की समस्या का भी समाधान है, यह श्री क्यमू के ये नाटक स्थापित करते हैं ।

मोतीलाल क्यमू के नाटक पाठ्य होने की अपेक्षा अभिनेय ज़्यादा होते हैं। साहित्यिक दृष्टि से इनमें वार्तालाप बहुत सटीक और सुघड़ नहीं होते, इनमें लाक्षणिकता का अभाव खल सकता है चरित्रण के पारम्परिक पैमानों की अवहेलना दिखाई पड़ सकती है, पर मंचन का तन्त्र यहां प्रमुख होता है। उदाहरणतः ' शाह' बादशाह और बेगम के बीच कहीं ऐसा कोई प्रसंग नहीं मिलता जहां ये पति–पत्नी दरबारी कृत्रिमता से अलग होकर आत्मीयता में रमते हों। राजा हो, वैद्य श्री भट्ट हो जिसने राजा को मौत की दाढ़ से निकाला, वज़ीर हों जो राजा के अंतरंग मित्र सहचर और शुभचिन्तक हों, सब ऊहात्मक वार्तालाप करते हैं। यह बांडों की अभिनय शैली की प्रमुख विशेषता है और इसका कारण यह है कि अधिकांश ' बांड पाथर ' में (अन्य भारतीय लोकनाटकों की तरह) राजा, कर्मचारियों तथा राज–दरबार की पृष्ठभूमि सदा मौजूद रहती है जहां औपचारिकता तथा नाटकीयता दोनों अनिवार्य कर्म होते हैं। राजा का अभिप्राय (motif) हमारी लोकवार्ता, इतिहास, पुराण, धर्म सब का अंग है। ' शाह ' नाटक तो एक राजा सम्बन्धित ऐतिहासिक घटना से ही जुड़ा है इसलिए ऊहात्मकता और औपचारिकता इसका एक अनिवार्य हिस्सा है।

नाटक के अन्दर नाटक की परम्परा इस देश में बहुत पुरानी है और ' जब आधार छूट जाएंगे ' इसी परम्परा की कड़ी है। रंगकर्मियों की अपनी समस्याओं

पर भी नाटक लिखे गए हैं और सामयिक समस्याओं की प्रेरणा से उद्भूत नाटक भी कई हैं। परन्तु कश्मीर के सन्दर्भ में इस प्रकार की यह पहली नाट्य कृति है जो वर्तमान के घातक प्रभावों से हमारा सीधा सामना कराती है और जिसमें बांड शैली के ज़रिए कथा को प्रभावशाली बनाने का बीड़ा उठाया गया है। कश्मीरी साहित्य में आतंकवाद से प्रेरित साहित्य में अभी तक केवल कविता और किसी हद तक कहानी उल्लेखनीय थी। इस दृष्टि से यह पहला ऐसा नाटक है । शैली का चुनाव नाटककार के व्यक्तित्व और उसके कथ्य की आवश्यकता से निर्देशित होता है। 'आधार ' और 'शाह' दोनों में दर्शक की विलगता (alienation) को बनाए रखा गया है। 'आधार' में बाहरी नाटक की कथास्थिति से ही भीतरी नाटक की अनिवार्यता उभरती है। मागुन और बांडन (उसकी पत्नी) के इकलौते बेटे की त्रासदी लोक कथा के 'अकनंदुन' की जैसी त्रासदी है और नाटक के अन्त तक आता दर्शक लोकनाटक की पीड़ा में भी शामिल हो जाता है। नाटक के कलेवर का मुख्य भाग अकनंदुन की कथा का है पर न अकनंदुन की कहानी नटों की पीड़ा से हमारा ध्यान हटाती है न नटों की पीड़ा अकनंदुन की ट्रेजडी हमसे भुलवाती है। दोनों नाटकों के बीच संक्रमण हमवार और त्रुटिहीन है। इसकी तुलना में ' शाह' में नटों की! समस्या उनके व्यवसाय की समस्या है। उनका व्यवसाय यों तो बडशाह के न्याय की कथा के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रखता। उनकी कला को परवान चढ़ाने तथा उनके नाट्य कर्म को गम्भीर दर्शकों आलोचकों तक पहुंचाने में घाटी के अल्पसंख्यकों ने अपनी सामासिक संस्कृति के अनुसार जितना योगदान दिया है, वह घाटी के तकरीबन सब बांड नट जानते हैं। जभी तो वे अल्पसंख्यकों के निष्कासन से हुई सांस्कृतिक हानि की पीड़ा से दंशित है।

'शाह' एक ऐतिहासिक घटना पर आधारित है पर यह कोई ऐतिहासिक नाटक नहीं। इसमें इतिहास को पुनर्जीवित करने या इतिहास का भ्रम पैदा करने की कोई कोशिश नहीं मिलती । स्वयं नाटककार ने भी संकलन के अन्त में 'बावथ' (अभिव्यक्ति) में यह बात कही है। इतिहास नाटक की वस्तु का एक संबल मात्र है, एक बहाना है जो इसकी प्रभावशाली मंचीयता के लिए सर्वथा उपयुक्त है। कथा के आग्रह के बदले मंचीयता का आग्रह इन नाटकों में एक मूल्य की तरह उभरता है। उदाहरण कई है। जैसे अकनंदुन की सात बहनों का कोरस । सात बहनों को एक भाई मिला और बारह साल बाद निर्मम साधु के कारण छिना जा रहा है। इस घटना को लेकर भाई बहन के अंतरंग सम्बन्धों के विश्लेषण के नाम पर या इस आधार पर मानवनियति के विश्लेषण का एक मर्मस्पर्शी साहित्यिक नाटक हो सकता था। पर क्यमू ने बहनों को एक ही सामूहिक स्वर मानकर उनके

कोरस का प्रयोग किया है, जिससे नाटक की कथा व्यक्ति की त्रासदी न होकर एक सामूहिक त्रासदी हो गई है। कोरस के प्रस्तुतीकरण में नाटक के प्रस्तुतकर्ता या निर्देशक की प्रतिभा के अनुसार परिवर्तनों की बड़ी गुंजाइश है। इसे मात्र समय गुज़ारने के औज़ार की तरह भी प्रयोग में लाया जा सकता है। क्यमू के मंच–आग्रह में ही शामिल है। बांड पा'थर की मुख्य शैली में अन्य देशी नाट्य–शैलियों या यूनानी अथवा अंग्रेज़ी की मंचन शैलियों का रचनात्मक मिश्रण किया गया है । उदाहरणतः 'मागुन' (महागुनी) वस्तुतः पॉथर के नेपथ्य में रहने वाला मंच–प्रबन्धक होता है जो न खेलने वाले कप्तान या कभी–कभी केवल भंडारी का काम भर करता है। श्री क्यमू ने उसके महत्व को देखते हुए उसे मंच तथा रंगकर्म के केन्द्र में स्थापित किया है। इसी प्रकार गोपाली ' साधु का नाटक ' की नायिका मात्र न होकर अभिनय तथा कर्म के केन्द्र में स्थापित कर दी गई है। श्री क्यमू न केवल एक नाटककार तथा रंगकर्मी है बल्कि ' बांड पॉथर ' शैली के एक शोधार्थी भी हैं। इस शैली तथा इसके चरित्रों की ऐतिहासिकता पर उन्होंने कई शोधपरक लेख लिखे हैं। प्रस्तुत संकलन में ' मागुन ' और ' गोपाली ' पर उनके शोधात्मक लेख किसी भी विद्यार्थी का सही दिशा निर्देश कर सकते हैं। ये लेख क्यमू ने बाद में परिवर्द्धित करके तथा अन्य सम्बद्ध सामग्री जुटाकर एक विशद ग्रन्थ " भांड नाट्यम" का प्रणयन किया। यह कश्मीरी में नाट्यालोचन का अप्रतिम ग्रन्थ है जिसे बहुत सराहा गया है।

•

पीछे

सफेद पतंग है / सफेद है डोर
सफेद बच्चा / सफेद ज़मीन पर खड़ा है
बच्चे को चीन्हने के लिए
नीले पीले मकानों के आयत टेढ़े गोल
आंगनों में उतारेगी
तो तुम्हारी कूंची कुबड़ा जाएगी
थामे नहीं रख पाओगे
कि पीछे मुड़कर देखो
कि बच्चे का चित्र बना लो ।

•

वंचित हो जाने की पीड़ा

(कश्मीरी की गद्य विधाओं में अभिव्यक्त)

क्या साहित्य अनुभवों या घटनाओं का संदर्भ या हवाला भी होता है ? क्या साहित्य से साहित्यकार के ठोस सांसारिक अनुभवों का संदर्भ लिया जाना चाहिए ?

प्रस्तुत प्रसंग में ये प्रश्न भी लिए जाएंगे, यद्यपि यहाँ ये प्रमुख न हो कर गौण रहेंगे।

लेखक अपने अनुभवों को ज्यों का त्यों अपने लेखन में नहीं बरतता, न उन्हें ऐसे अभिव्यक्त करता है कि उन्हें घटनाओं के साथ सीधे समीकरण में पहचाना जा सके। वह उन्हें अपने उस खास मुहावरे से ढाल कर पेश करता है जो उसने अर्जित किया होता है। यों कि उस के अनुभव की मूल तस्वीर बनी नहीं रहती । कुछ नहीं तो चरित्रों के नाम, पते तथा अन्य विवरण बदलते जाते हैं। कविता हो तो स्थिति कुछ ज़्यादा ही अरूपात्मक हो जाती है। कवि अनुभव को अनुभूति तक ले जाते हुए अपनी रचना–प्रक्रिया के आलोड़न से गुज़रता है। इस सब से अनुभव की शक्ल आमूल बदल सकती है, पर यह तथ्य फिर भी रहता है कि हम कहानी, कविता में लेखक के सांसारिक अनुभव को और घटना को पहचान लेते हैं। इस का मतलब यह हर्गिज़ नहीं कि इस सब से साहित्य अपने समय के बारे में सूचनाओं का संग्रह या भंडार मात्र बन कर रह जाता है। ऐसा होता तो

साहित्य को इतिहासकार गवाही के तौर पर इस्तेमाल करता । पर हम जानते हैं कि ऐसा नहीं होता । सूचनाओं के भार से दबा साहित्य न इतिहासकार को मंजूर होता है और न ही साहित्य के समालोचक को। इन सब के बावजूद किसी भी समय की दशा दिशा को समझने के लिए हमें जो बेहतरीन साधन उपलब्ध है, वह उस समय का सुरचित साहित्य ही है। साहित्य प्रकृति से तथा रचना से समय की जीवन्त सोच होता है और समय के यात्री यानी साहित्यकार पर गुज़री–बीती का ईमानदार संदर्भ होने के कारण उस के अनुभव तथा अनुभूति से सम्पन्न विश्वसनीय कोश भी होता है।

पिछले करीब दो दशक के जिस घटनाचक्र से कश्मीर गुज़र चुका है, उस की प्रत्यक्ष या परोक्ष छाप हम इस दौरान लिखे गए तथाकथित आत्मनिष्ट काव्य साहित्य में भी देखते है, और अपेक्षाकृत विषयगत कहानी नाटक साहित्य में भी पाते हैं। इन घटनाओं की वीभत्सता, इन में मौजूद करुणा और विराग की छवियाँ, सब इन में मौजूद हैं। इन घटनाओं को याद करके साहित्यकार का अंतस् इस समय के सब से बड़े आलोड़न यानी आतंकवाद के प्रति कभी क्रोध से भर उठता है तो कभी यथासमय प्रतिक्रिया न दे पाने पर आत्मग्लानि से तिलमिला उठता है। इस भुक्त भोगी लेखक के जीवन की सब से त्रासद घटना है उस के विवश देशत्याग की घटना तथा उस से जुड़ी अन्य अयाचित घटनाओं का सिलसिला। इस में आए दिनों की निर्मम सामूहिक हत्याएँ और भयानक वारदातें हैं। इन से जुड़े स्मरण और अनुस्मरण अनायास लेखक की रचना में ढलते हैं और यों वह अपने घेरे से निकल कर आम आदमी के मन में उतरता है। लेखक को आतंकवादी घटना उतना नहीं कुरेदती जितना अपनी विवशता जिस के फलस्वरूप उसे अपनी जान हथेली पर रख कर कश्मीर से पलायन करके अपनी भौतिक और सांस्कृतिक सम्पदा खो देनी पड़ी । कश्मीर को फिर प्राप्त करने और वहाँ अपनी–सी निर्व्याज ज़िन्दगी जीने की सम्भावना दिनों दिन दूर होती जा रही है। अब उसके पास जो पूँजी बची है, वह कुछ अग्नीले सपने हैं जिन में वह चाहे–अनचाहे झोंका जाता है। विडम्बना यह कि अब ये ही उस का सम्बल हैं। इन से जुडी है उस की अनगिनत स्मृतियाँ, जिन्हें वह संजोए रखना चाहता है, यद्यपि ये बड़ी दर्दनाक है।

हमारे देश में राजनीतिक आलोड़न कैसे साहित्यिक रचना प्रणाली को अप्रभावित छोड़ सकता है, यह देखना हो तो देश–विभाजन के समय का भारतीय भाषाओं का साहित्य हमारे सामने आदर्श उदाहरण पेश करता है और यह साबित करने की ज़रूरत नहीं है । यह एक अजीब तथा विप्राकृतिक (एनॉक्रॉनिक) तथ्य

है, पर यह कोई आदर्श सत्य नहीं है। यह भी ग़ौरतलब है कि विश्व युद्ध, विशेष कर द्वितीय महायुद्ध से प्रभावित जैसा साहित्य यूरोपीय भाषाओं में मिलता है, उसी तरह विभाजन की त्रासदी से प्रेरित साहित्य भारतीय भाषाओं में नहीं के बराबर लिखा गया। खैर . . . . विभाजन के संदर्भ में और भाषाओं की बात दरकिनार, कश्मीरी के प्रसंग में विस्थापन साहित्य पर्याप्त रचा गया और रचा जा रहा है। यह कश्मीरी रचयिता मानस की एक विशिष्टता है।

कश्मीरी भाषा के ऐसे साहित्य की जो विशिष्टता सब से पहले हमारा ध्यान खींचती है वह यह है कि कविता के बाद दूसरी बड़ी विधा अर्थात् कहानी में जहाँ पहले से लिख रहे सुस्थापित लेखक जैसे हरिकृष्ण कौल, हृदयकौल भारती या औतार कृष्ण रहबर मंद पड़ गए, वहां कई नए कहानीकार सामने आए, जिन में विजय माम, माखन लाल पण्डिता,रूप कृष्ण भट्ट अवतार होगामी तथा ओंकार कौल हमारा ध्यान अपने ताज़ा अनुभवों के कारण अपनी ओर खींचते हैं। शायद विरुद्ध विप्लवकारी और जानलेवा माहौल में अलग तरह की सरकश पहल की ज़रूरत होती है, जो पुराने लेखक के बस की उस क़दर नहीं होती, जिस क़दर यह नए के पास हो सकती है।

इस दौर में कई नए कहानीकार ऐसे आए कि उन का उल्लेख प्रस्तुत संदर्भ में अनिवार्य है। माखल लाल पण्डिता की कहानियों का संकलन आया *'करनफ़ुयर'* (युग परिवर्तन)। इस में संकलित बारह कहानियाँ इस नवोदित कथाकार की विस्थापन–चेतना की पूरी गवाही देती हैं। सीधे–सपाट विवरणों से किस तरह चुटीला व्यंग्य पैदा किया जा सकता है, यह इन कहानियों की निर्व्याज भाषा में देखा जा सकता है। कश्मीर की पूर्व स्मृतियों में कहानीकार खो नहीं जाते, बल्कि उन में छिपे विरोधों को उघाड़ कर रख देते हैं। ये विशेषताएँ उनके दो परवर्ती संकलनों 'भँवर' और 'रंबिऑर नदी के किनारे' में बराबर मिलती हैं। रूप कृष्ण भट्ट का *'हरद वाव'* (पतझड़ की आँधी) ग्यारह कहानियों का संग्रह है। ये कहानियाँ विगत दशाब्द की त्रासदी को किसी न किसी रूप में लेती है। एक ओर इन में जहाँ घाटी में आतंकवाद के अमानवीय शोषक तथा व्यावसायिक रूप का पर्दाफाश किया गया है, वहाँ दूसरी ओर कश्मीर घाटी में अब भी कहीं–कहीं मौजूद करुणा तथा सहानुभूति के दृश्य उकेरे गए हैं। पंडिता को कहानी की प्रथम प्रेरणा विस्थापन में तब मिली जब उन्हें अपने तमाम गौरवशाली सांस्कृतिक अतीत के बावजूद वर्तमान के घृणात्मक रूप का सामना करना पड़ा, क्योंकि ये बेघर हो कर भटकने पर मजबूर हो गए। भट्ट स्वयं कहते हैं कि उन्हें एक ऐसे पेड़ की तरह

निस्सारता और मरणशीलता के बोध ने घेर लिया, जिस की जड़ें काट दी गई हों पर पत्ते पानी से सींचे जाने लगे हों। फलस्वरूप उन्होंने क़लम उठाई। पंडिता की ही तरह भट्ट में भी कहानी किसी कलात्मक पेचीदगी से दो–चार नहीं होती तथा सरल मुहावरे में कागज़ पर उतरती है। सरल मुहावरा होगामी और ओंकार कौल की छोटी छोटी कहानियों में भी रेखांकित व्यंग्य को तीव्र करता है। कुछ नहीं तो ये कहानियाँ कश्मीरी कहानी में स्वस्थ कथात्मक परम्परा को और दृढ़ करती है तथा दो दशक पहले आए कलाबाज़ी के सैलाब के प्रभाव से इसे मुक्त करती हैं। इस प्रसंग में अवतार कृष्ण राज़दान, रत्न लाल जौहर, मोहन गुलाबी और विजय माम आदि अपेक्षाकृत कम नए या कहें कि विगत दशक के आरम्भिक वर्षों के कहानीकारों की कुछ कहानियाँ भी हवाले के तौर पर ली जा सकती हैं। इन में विस्थापन का पूर्वाभास तथा जन–साधारण की भीतियों का प्रतिफलन दोनों की झांकी देखने को मिलती है। अपने सर्वस्व को अपनी आँखों के सामने लुटते देखने की मूक पीड़ा इन कहानियों पर छाई हुई है। उपर्युक्त कहानीकारों की जो कहानियाँ इस संदर्भ में उल्लेखनीय है, वे हैं ' ऊंट ', ' युग परिवर्तन ' (पंडिता), 'पतझड की आँधी' ' उस पार का सपना' (भट्ट); 'माँ की सुगंध' (राज़दान); 'आशा और आशंका' (जौहर); 'दोष' (गुलाबी); तथा 'अभाव' (माम)। अप्रासंगिक नहीं होगा यदि इस संदर्भ में पूर्व पीढ़ियों के हरिकृष्ण कौल की 'उस पार की रोशनियाँ' ' आदत' ' उँगली' ; अवतार कृष्ण रहबर की ' जब परदा उठा' 'जमा तफरीक तकसीम' और रतनलाल शान्त की 'टूटन', 'मिट्टी', 'बेअन्त' को भी लिया जाए । बहरहाल इन कहानीकारों में खो देने की पीड़ा स्पष्ट परिदृश्य तथा प्रतिबद्धता के साथ अभिव्यक्त होती है।

अवतार कृष्ण राज़दान की कहानियों में सीधे सादे मनुष्यों का दुख–दर्द सीधी सपाट भाषा में व्यक्त किया गया है। देश–त्याग की पीड़ा को प्रकट करने वाली कहानियों में चरित्र छल कपट तथा विश्वास टूटने की धुंध में भटकते दिखाई देते हैं । कश्मीर में भाईचारे तथा पड़ोस के प्यार में दरार पड़ने का दर्द चरित्रों को झनझना देता है। ' माँ की सुगन्ध' कहानी में यह दर्द कश्मीर–माता को रूपक के माध्यम से प्रकट हुआ है। कश्मीर माता कहती है :–

" मेरा यह नूर भरा चेहरा देखते देखते बदसूरत क्यों हो गया । ... मैं माँ थी और सब को मेरे सलाह मशविरे का इन्तज़ार रहता था पर आज उसी माँ का हृदय छलनी हो गा है . . ."

रत्नलाल 'जौहर' की ' आशा और आशंका' उस सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की एक झांकी प्रस्तुत करती है जो कश्मीरी विस्थापितों के जम्मू आने से पैदा हो रहा है। इस में खासतौर पर यहां के व्यापारी वर्ग की स्वार्थी प्रवृत्ति के विश्लेषण की पृष्ठभूमि में विस्थापित चरित्रों की लाचारी का पैना चित्रण मिलता है। वीरेन्द्र पटवारी मूलतः उर्दू के कहानीकार हैं पर इधर इनकी कई कश्मीरी कहानियाँ आ गईं। इनमें ' बूद ना बूद ' उल्लेख के योग्य है। मोहन गुलाबी की कहानी 'दोष' में आतंकवाद के फलस्वरूप विश्वास खो जाने का दर्द रह–रह कर प्रकट होता है। विजय माम इस काल में उभरने वाला एक अहम कहानीकार है। उसने अपनी कहानियों में साधारण आदमियों के मनोविज्ञान की गहराइयाँ परखी और उन में आज की हकीकत के चित्र उभारे। इन में कभी लोक–कहानी के जैसे आयाम उभरते हैं और कभी प्रेत कथा के प्रतीक कथाकार के कथ्य का माध्यम बनते हैं। ' पगली की चीख' नामक कहानी में दैत्य के आकार का बच्चा पैदा होते ही माँ की छातियों में अपने दांत गडाता है और बादशाह मुल्क की सारी परीरू लड़कियों से शादी करता है । ' अभाव ' नामक कहानी में इनसान के अचानक खो जाने से लेखक चौंक उठता है। कहता है –

> " अचानक मैं ने महसूस किया कि किसी ने मेरे कंधों को पकड़ लिया है। मैं ने देखा .... वो उन्हीं जंगली जानवरों में से एक था। इतने में चारों तरफ शोर मचा। वो मेरी ओर आ रहा था। उसके साथ लोगों की भीड़ थी और सब लोग मेरी ही शक्ल के थे। "

ओम्कार कौल मूलतः भाषाविद् हैं पर कश्मीरी में कहानियाँ और निबन्ध भी लिखते हैं। उनकी 'उसे मेरी नज़र लगी' नामक कहानी जुलूसों कर्फ्यू और पथराव करती भीड़ों के वातावरण में एक कोमल मानवीय भावना के खोजने का दर्द उजाकर करती है। बस में ज़ख्मी होने वाली एक हिन्दु महिला का इलाज उपचार करके एक मुसलमान लड़का भाई की तरह उसकी रक्षा करने का वादा करता है। ये कहानियाँ राजनीति पर टीका टिप्पणी नहीं करतीं पर राजनीतिक उलझन में फंसे आम आदमी का दर्द बयान करती है।

इस प्रसंग में म० क० रैना के दो अहम कहानी संकलन चॊक मॊदुर (खट्टा मीठा) और कॆंह नॊन कॆंह सॊन (पर्दा बेपर्दा) एक प्रछन्न पर प्रतिभावान पर्यवेक्षक तथा अभिव्यंजक का परिचय देते हैं। उनके पर्यवेक्षण का घेरा कश्मीर के अनुभवों के बीच पले बढ़े स्मरणीय चरित्रों का है। भाषा की कलाबाज़ी को छोड़ कर

सीधी प्रवहमान शैली में वे अपना अतीत और वर्तमान पुनर्जीवित करते हैं।

विगत दशक के नाटक साहित्य में विस्थापन तथा उसके फलस्वरूप वंचित होने की पीड़ा का प्रतिनिधि चित्रण एक ऐसे नाटककार में मिलता है जिसका साहित्य कश्मीरी नाटक साहित्य का ही प्रतिनिधि माना जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। मोती लाल क्यमू ने दर्जन भर बहुअंकी और कुछ एकांकी नाटक लिखे हैं। इतने किसी और ने नहीं लिखे। इन के इधर के नाटकों (जैसे 'भांड दुहाई') की केन्द्रीय वस्तु ही आतंकवाद तथा विस्थापन है। इस नाटक में मसख़रा – यह नाटक भांड लोक शैली में लिखा गया है – यों कहता है :

हिलें अगर आधार, ढहेंगे, भवन गिरेंगे,
टूट हार कर बैठेंगे सब फिर मन मारे
हो उपचार किस तरह क्या जीवन का ?
पिता मरे भी, हम तो माँ पर वारी जाएँ ।

ये पंक्तियाँ (अनुवाद में) – प्रसिद्ध सूफ़ी कवि नुंद ऋषि की हैं। इन में सामाजिक और नैतिक बुनियादों को सुदृढ़ करते रहने की आवश्यकता के प्रति जन–साधारण को सचेत किया गया है। नुंद चौदहवी सदी के सचेत समाजापेक्षी कवि थे। उस समय कश्मीर में विराट पैमाने पर धर्म तथा जाति की बुनियादें हिलाई जा रही थी। लगता है कि उस नए आलोड़न में युवा भूमिका के सम्भव ध्वंसात्मक नतीजों से बेज़ार, कश्मीर की मूल प्रकृति की संरक्षा के समर्थक कवि नुंद ऋषि ने ख़तरा भी अनुभव किया था तथा बचने की कुछ राहें भी सुझाई थीं। उस समय आबादी के एक बड़े भाग के (हिन्दुओं के) देशनिर्वासित होने को कवि ने समाज की नींव के निकल जाने से अभिहित किया था। एक सम्भव उपचार यह सुझाया था कि माँएं अपने बच्चों को रोकें तो परिवर्तन, भले ही वह धर्म परिवर्तन ही हो, सहज होगा। देखा जाए तो आज का बेक़रार सिरफिरा कश्मीरी नौजवान भी शीघ्र परिवर्तन का हामी है और बन्दूक से समस्या का अपना चुनिन्दा हल सब के सिर पर ठोकना चाहता है। आज भी माताएँ ही लड़कों की बेक़रार रूहों को चैन दिला सकती हैं, यह नाटककार मोती लाल क्यमू बताना चाहते हैं। क़रार आएगा तो हिंसा रुकेगी और विस्थापन को अनहुआ किया जा सकेगा। इस नाटक के भीतर के नाटक में आतंक के फलस्वरूप भांड–माँ के बेटा खो देने की पीड़ा को वर्तमान कालीन पीड़ा के समानांतर पेश किया गया है।

क्यमू के पिछले दशक के तीनों नाटकों – *नगर उदास*, *शाह का नाटक* और *भांड दुहाई* में खो देने की पीड़ा ही केन्द्रीय थीम के रूप में उभर कर ऐतिहासिक या अर्ध ऐतिहासिक कथावस्तुओं में ढल कर आ गई है। उन के एक सामाजिक एकांकी *हाय री हाय* ! में कथा ज़्यादा ठोस संकेतों के साथ, जम्मू की शरणार्थी तम्बू बस्तियों के परिवेश से जुड़ी हुई है। इस नाटक में एक बस्ती में रह रहे रोते–कलपते लोगों की घर–द्वार खो देने की अनुभूति और पीड़ा की शिद्दत को उकेरा गया है। विस्थापन की स्मृतियों की त्रासदी से आहत ' *टूटे फूटे बच्चे* (स्व0 सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के मुहारवे में कहें तो) उस कश्मीर को पाने की तमन्ना करते हैं जिस में वह चिनार की शीतल छाया है, वे बाबा ऋषि है और सौहार्द है, जिस के बारे में वे आए दिन अपने बुज़ुर्गों से सुनते रहे हैं। ये बच्चे विस्थापन में, अभावों मे जन्मे तथा मानसिक पंगुता में पले और बढ़े हैं।

इस संदर्भ में कश्मीर के प्रसिद्ध नाट्य–निर्देशक और प्रतिबद्ध रंगकर्मी राधाकृष्ण ब्रारू का लिखा हुआ नाटक ' ऋषि वाटिका ' उल्लेखनीय है। इसमें आतंकवाद को एक और दृष्टि–बिन्दु से देखने का प्रयास किया गया है, अन्ततः जिसका शिकार अल्पसंख्यक होता है पर जिसकी चपेट में बहुसंख्यक भी आता है। यह नाटक दिल्ली तथा जम्मू में बड़ी सफलता से खेला गया।

यह तथ्य केवल संयोग बता कर उपेक्षित नहीं किया जा सकता कि इस दौरान लिखे गए रतनलाल शान्त के नाटक '*शाह रग*' में भी एक ऐतिहासिक कथा का सहारा ले कर संकटकाल में माता की भूमिका को ही उठाया गया है। खोए हुए को प्राप्त करने के लिए यह भूमिका महत्वपूर्ण हो सकती है, यही बात इस में भी रेखांकित की गई है।

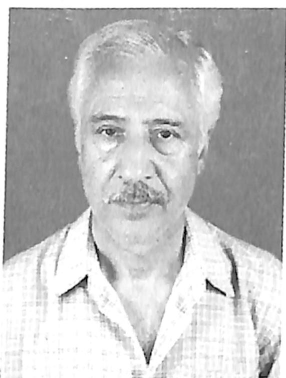
कश्मीरी साहित्य में कहानी–नाटक, परम्परा से ही प्रमुख गद्य विधाएँ रही हैं। ऐसे में कथ्य की हर नई प्रवृत्ति इन में ठीक विकास पाती है। विस्थापन की घटना सामान्य जन–जीवन को जैसे झकझोर गई, उसे देखते हुए विलक्षण होता यदि वह इन विधाओं को छुए और घेरे बग़ैर निकल जाती । विस्थापन ने चूँकि वंचित होने के आध्यात्मिक अनुभव से सर्जक को उसी तरह गुज़ारा, जैसे जीवन को भौतिक एवं मानसिक अभावों से। कश्मीरी कहानी–नाटक स्थानीय जीवन के मुख्य अभिव्यंजक होने के कारण अप्रभावित नहीं रह सकते थे।

कहानी नाटक के अलावा इधर कई ललित निबन्ध लिखे गए जिन में

विचार और हास्य, भावना और व्यंग्य का सुन्दर मिश्रण मिलता है। इस प्रसंग में पुष्करनाथ दर के निबन्ध ' बिच्छू बूटी मैं ने लगाई मुझी को लगी ' ' ज़िन्दा रहो और वचन सुनो ' बड़े लोकप्रिय हुए। उनके चुटीले व्यंग्य से पूर्ण अन्य निबन्ध भी उनका ' चेटिनाव ' (यह मुसीबत) सरल स्पष्ट गद्यशैली का बहुत अच्छा ग्रन्थ है, जिसमें देश तथा संस्कृति से वंचित जन का दर्द एक नए गद्यकार की कलम से अनूठा और प्रभावशाली बन कर उभरा है। पृथ्वीनाथ भट्ट ने बांडीपोर गांव में बिताए बचपन को अपने निबन्धों में बड़ी सुन्दरता के साथ फिर ज़िन्दा किया। कॉशुर समाचार के सम्पादक शम्भुनाथ भट्ट हलीम की सामाजिक आलोचना और उनके अर्ध-राजनैतिक सम्पादकीय कश्मीरी जर्नलिज़्म को अपनी किस्म की अलग देन है। कश्मीरी को नागरी लिपि में आम करके उन लोगों के बीच ज़िन्दा रखने का 'हलीम' का काम बहुत अहम है, जो कश्मीर से दूर देश और विदेश में रहते हैं। यह काम जम्मू से निकलने वाली ' क्षीरभवानी टाइम्ज़ ' कोलकत्ता से निकलने वाली ' वितस्ता' बंगलौर की 'आलव', मुंबई की 'मिलचार' और अब दिल्ली से निकलने वाली सपूर्ण त्रैमासिक 'वाख' जैसी पत्रिका भी कर रही हैं। नतीजा यह है कि आज विस्थापन और मानसिक भटकन के बावजूद अधिसंख्य कश्मीरी पुस्तकों; संगीत, नाटक आदि की मांग विस्थापित लोगों में बढ़ रही है, क्योंकि वे अपनी भाषा में अपनी खोई संस्कृति को जीवित रखने में विश्वास करते हैं।

आलोचना के क्षेत्र में ' लीला साहित्य : एक और दृष्टि ' तथा संस्मरणों में पुष्कर भान का ' जिसे में ने बचाया, खुदा मुझे उसी से बचाओ ' काफी साहित्यिक महत्त्व रखते हैं। 'कश्मीर साहित्यिक संदर्भ ' (शान्त) हिन्दी का आलोचना ग्रन्थ है, जिसमें कश्मीरी साहित्य के आकलन के चलते, विस्थापन और वंचित होने की कश्मीरी साहित्यकार की पीड़ा को भी सविस्तार लिया गया है। इस प्रसंग में मोतीलाल साक़ी और पृथ्वीनाथ कौल 'सायिल' के वे संस्मरण उल्लेखनीय हैं जिन में उन्होंने कश्मीर से भागने के अपने तजुर्बे ज्यों के त्यों लिखे हैं।

यह पिछले बरसों में लिखे गए और मुख्यतः नागरी में छपे कश्मीरी साहित्य का एक छोटा परिचय है। विद्वानों काक मत है कि इस दौरान शायद कश्मीर से बाहर उस से काफ़ी ज़्यादा कश्मीरी साहित्य लिखा गया जितना कश्मीर के भीतर लिखा गया।



रतनलाल शान्त बडियारबाला, श्रीनगर में एक निम्नमध्यवर्ग परिवार में 14 मई 1938 को जन्मे। स्थानीय सरकारी स्कूलों कालेजों में विद्यार्जन करके आखिर 1957 में जम्मू कश्मीर विश्वविद्यालय में प्रथम रहकर स्नातक परीक्षा पास की। उसी वर्ष राष्ट्रपति का स्वर्णपदक प्राप्त किया। फिर प्रयाग वि॰ वि॰ से 1959 में एम॰ए॰ तथा 1976 में "कवि–व्यक्तित्व और आधुनिक काव्य चिन्तन" पर डी॰ फिल॰ की उपाधि प्राप्त की । 1959 से 1996 तक जम्मू कश्मीर राज्य के विभिन्न कालेजों (बीच में कुछ वर्षों के लिए जम्मू कश्मीर विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तोर विभाग में) में मुख्यतः हिन्दी (तथा अंशतः कश्मीरी) के प्राध्यापक रहे।

लेखन 1953 में हिन्दी कविता तथा कश्मीरी कहानी से करीब एक ही समय आरम्भ किया। हिन्दी में कविता, आलोचना, नाटक, कहानी तथा कश्मीरी में कहानी, आलोचना तथा नाटक की रचना करते रहे हैं।

हिन्दी में प्रकाशित 'खोटी किरणें' (1965) 'कविता अभी भी' (1997) कविता संग्रह, 'कश्मीर साहित्यिक संदर्भ' (1999) 'समय के तेवर (2007) आलोचना ; कश्मीरी से अनूदित किए – 'पोशिमाल ' (रसूल मीर) 'नुन्दऋषि' (शेखनूरुद्दीन), 'आवाज़ों के अर्थ' (नादिम) ' 'उजला राजमार्ग ' (चयन, सम्पादन) त्रिभाषा कोश (सह सम्पादन)।

कश्मीरी में : बरौनियों पर पहाड़, तिकोना, खोए हुए अर्थ, टूटन (छिन्न) कहानी संग्रह ; 'कहानी क्या है' ' कश्मीरी कहानी : आज और कल' – आलोचना। अनुवाद रूसी से – 'तीन बहनें' ' भालू' ' शादी का प्रस्ताव ' (चेखव) अंग्रेज़ी से 'सलोमे' (वाइल्ड),बंगला से 'घर बदली' (रमापद चौधरी), (अरबी से) ' अलबीरूनी का हिन्दोस्तान '। '(कश्मीरी) गद्य की पुस्तक " (सम्पादित) ।

• • •